जैनों का इतिहास

लेखक

असीम कुमार रॉय

अनुवादक

सुधीन्द्र गेमावत

प्रकाशक

श्री जैन श्वेताम्बंर संघ

जवाहर नगर सेक्टर 4

जयपुर

प्रकाशक :
श्री जैन श्वेताम्बर संघ
जवाहर नगर सेक्टर 4,
जयपुर

प्रथम संस्करण : 1993

मूल्य : 80/-

फोटो टाइप सैटिंग : प्रीमियर कम्प्यूटरस्, जयपुर
मुद्रक : प्रीमियर प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर

प्रकाशक की ओर से

भारत का विश्व प्रसिद्ध सुन्दरतम नगर जयपुर न केवल कला, संस्कृति और साहित्य का वरन विभिन्न धर्मों के विकास का भी प्राचीन केन्द्र है । यहां विद्वानों और कलाकारों ने भारतीय संस्कृति को काफी समृद्ध किया है । यह शहर शान्ति, सद्‌भाव और समन्वय का प्रतीक रहा है ।

जैन धर्म की दो प्रमुख धारायें हैं — दिगम्बर और श्वेताम्बर । यद्यपि दोनों शाखाओं के तीर्थंकर , धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र समान हैं फिर भी आपस में गहरे मतभेद हैं । यही नहीं दिगम्बर और श्वेताम्बर भी कई शाखाओं और प्रशाखाओं में बंटे हुए है जिनका आधार प्रक्रिया के कुछ छोटे- छोटे भेद हैं । इन मतभेदों को दूर करने और जैन धर्मावलंबियों को एकता के सूत्र में पिरोने के उद्देश्य से, जवाहर नगर में एक प्रयास किया गया है । इस प्रयास का प्रथम चरण था — श्वेताम्बरों की शाखाओं (मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथी) शाखाओं को मिलाना और उनके मतभेदों को दूर करना ताकि वे एक दूसरे को समझ सकें और स्नेह सूत्र में बंध सके । परिणाम था "जैन श्वेताम्बर संघ, जवाहर नगर" की 5 अप्रेल, 1981 को स्थापना ।

स्थापना से लेकर संघ प्रति वर्ष प्रगति के नये सोपान चढता गया। जवाहर नगर में सुन्दर दादाबाडी, जिसमें मणिधारी जिनचन्द्र सूरीजी की 71" की खडी प्रतिमा विराजमान है , एक बडे सभाभवन तथा स्थानक के तीन कक्षों का निर्माण हो चुका है। स्थानक, प्रवचन हाल एवं शिखर बन्द मंदिर निर्माणाधीन है ।

महावीर साधना केन्द्र के ठीक पीछे महावीर उद्यान का विकास किया जा रहा है । संघ के क्रियाकलापों की सभी विद्वानों और पूजनीय साधु सन्तों ने मुक्त कंठ से प्रसंशा की है और इसे भारत भर में अनुकरणीय संस्था बतलाया है ।

इसी उद्देश्य को लेकर हमारा संघ कुछ ऐसे साहित्य का सृजन और प्रचार करना चाहता है जिससे जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी मतभेद दूर हो सकें और वे एकता के सूत्र में बंध सकें । इसी क्रम में हमारा संघ श्री ए0 के0 रॉय, आई0 ए0 एस0की अंग्रेजी पुस्तक "A HISTORY OF JAINAS" का श्री सुधीन्द्र गेमावत आइ0ए0एस द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने जा रहा है । इस पुस्तक में लेखक ने जैनियों का अत्यन्त संक्षिप्त इतिहास ही नहीं लिखा वरन् यह भी बतलाया है कि जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है और उसकी विचारधारा का भारत के अन्य सभी धर्मा पर गहरा प्रभाव पडा है । यही नहीं लेखक जो एक अजैन है ने आश्चर्य व्यक्त करते हए लिखा है कि जैन धर्म के विभिन्न अनुयायिओं के बीच मतभेदों का कोई ठोस आधार नहीं प्रतीत होता । यदि कोई बातें हैं तो भी वे बहुत ही मामूली और अर्थहीन सी । यदि भारतवर्ष के जैन, लेखक के विचारों पर गम्भीरता से

सोचें तो शायद उनके मन के राग द्वेष मिट जायें और उनका अन्य जैन सम्प्रदायों से मैत्री भाव बढ़ जाय । फिर जैनों का संगठन मिलकर विश्व के दुखों को कम करने और शान्ति, प्रेम और सद्भाव बढाने में सक्रिय योगदान दे सके। हमारा संघ् इसी अपेक्षा से पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने जा रहा है । इस अवसर पर संघ पुस्तक के लेखक श्री ए.के. रॉय और अनुवादक श्री सुधीन्द्र गेमावत के प्रति भी आभार व्यक्त करता है।

दिनांक 5 अप्रेल, 1993

श्री जैन श्वेताम्बर संघ
जवाहर नगर, जयपुर

भूमिका

ईसा से छठी शताब्दी पूर्व, बौद्ध धर्म का अभी प्रादुर्भाव हुआ ही था। वैदिक धर्म समाप्त प्राय: सा हो रहा था तथा आज का हिन्दू धर्म अभी अपनी शैशवावस्था में था। जैन धर्म, उस समय न केवल एक परिपक्व एवं जीवन्त धर्म था वरन् उस समय भी यह अत्यन्त प्राचीन माना जाता था। इसके सभी सिद्धान्त पूर्णतया विकसित थे तथा पिछले ढाई हजार वर्षों में भी वे अपरिवर्तित रहे हैं। इस प्रकार जैन धर्म भारत का प्राचीनतम जीवन्त धर्म है।

केवल प्राचीनता ही वह एक मात्र गुण नहीं है जो कि जैन धर्म को महत्ता प्रदान करता हो। परन्तु यह धर्म इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसने भारत की समस्त धार्मिक विचारधाराओं को प्रभावित किया है। जैसा कि कई लोगों का विचार है, यदि भारतीय धार्मिक जीवन में "जीवन और जगत की नश्वरता" का भाव मूल है तो यह जैन धर्म और उस जैसे अन्य धर्मों का भारतीय जीवन पर प्रभाव ही है। यही बात जैन-भावना की, वैदिक लोगों के जीवन और जगत के प्रति आस्था की भावना पर विजय प्रदर्शित करती है जो भारतीय धर्म के विचार की मूल धारा को निराशा से आशा और आनन्द की ओर नहीं मोड़ सके। प्राणियों की हत्या के प्रति घृणा, यह विश्वास कि साधु पवित्रात्मा होते हैं (तात्पर्य यह कि किसी को पवित्र होने के लिए साधु होना पड़ेगा), आत्मा के पुनर्जन्म की धारणा, यह कि संसार में उत्पन्न होना ही एक दण्ड है— ये सारे विचार हिन्दू धर्म के हैं। ये सारे विचार छठी शताब्दि पूर्व जैन धर्म और उसके समान अन्य धर्मों जो उस समय प्रचलित थे, से बिना विशेष परिवर्तन के ले लिये गये हैं। (इन अन्य धर्मों के अस्तित्व के बारे में साक्ष्य बहुत ही कम हैं, यद्यपि बौद्ध और जैन ग्रन्थों में इनका विवरण मिलता है।)

भारत की 70 करोड़ की जनसंख्या में जैनों की संख्या 30 लाख से कुछ ही अधिक है। इतना छोटा समाज होते हुए भी यह इतना प्रभावशाली किस प्रकार हुआ ? इसका कारण शायद यह हो कि भारतीय लोगों के सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से धर्म, जैन धर्म से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं। इनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन वैदिक विचारधारा से आया परन्तु अन्त में इन पुराने धर्मों का प्रभाव बना रहा। इस प्रकार जैन धर्म ने हिन्दू धर्म को इतना अधिक प्रभावित तो नहीं किया परन्तु उसके लिए मार्ग दर्शक अवश्य बना रहा।

चूँकि जैन धर्म में पिछले 2500 वर्षों में न तो कोई परिवर्तन हुआ, न विकास ही हुआ, इसलिए इसका कोई इतिहास भी नहीं है। वास्तव में, जैन धर्म में अन्तिम परिवर्तन महावीर ने ही उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों में, पाँचवा अतिरिक्त महाव्रत जोड़कर किया था। जैन लोग इसलिए महावीर के बाद अपना इतिहास लिखने में झिझकते हैं। वास्तव में दिगम्बर जब अपना इतिहास लिखते हैं तो महावीर

पर आकर रुक जाते हैं। श्वेताम्बरों ने महावीर के बाद कम से कम दो इतिहास की पुस्तकें लिखी है, परन्तु वे भी कुछ सदियों तक चलकर रुक जाते हैं।

इस प्रकार यह जैन धर्म का इतिहास न होकर जैन लोगों का इतिहास है।

जैनों के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति महावीर हैं। वे बुद्ध के समकालीन थे। इसका ज्ञान बौद्ध ग्रन्थों से ही मिलता है क्योंकि जैन ग्रन्थों में बुद्ध का कहीं कोई जिक्र ही नहीं है। महावीर 72 वर्ष जीवित रहे, उसमें अन्तिम 30 वर्ष उन्होंने उपदेश देने में बिताये। जैन ग्रन्थ उनके जीवन के पहिले 42 वर्षों का कुछ वर्णन देते हैं परन्तु उनके धर्मोपदेशक काल की सूचना अल्प है। (बौद्ध ग्रन्थ भी भगवान बुद्ध के धर्मोपदेशक जीवन के बारे में बहुत कम सूचना देते हैं।) भगवान महावीर के बाद, प्रथम कुछ शताब्दियों तक जैन धर्म को कुछ अधिक राज्याश्रय नहीं मिला। इन शताब्दियों में, केवल मात्र एक ही राजकीय संरक्षक मिला जो उज्जयनी का राजा और अशोक का पौत्र संप्रति था। शिलालेखों से पता चलता है कि अशोक स्वयं जैनों का संरक्षक था और उसने उनके कल्याण के लिए अधिकारियों को नियुक्त कर रखा था। शिलालेखों से यह भी सिद्ध है कि ईसा पूर्व प्रथम सदी में ओडिसा का राजा खारवेल और उसकी रानी, जैन धर्म के संरक्षक थे। (जैन ग्रन्थों में अशोक के नाम का केवल उल्लेख मात्र है और खारवेल का तो कहीं जिक्र ही नहीं है) जो लोग व्यापार धंधा करते थे वे ईसा की प्रथम सदी से इस धर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। इसका पता मथुरा के पास कंकाली के भग्नावशेषों में प्राप्त उनके द्वारा भेंट की गई मूर्तियों आदि से चलता है।

हमें नहीं पता, जैन धर्म की दो शाखायें, श्वेताम्बर और दिगम्बर किस प्रकार बनीं। शायद इनमें कोई मतमतान्तर नहीं था। संभवतः भौगोलिक कारणों से ही ये एक दूसरे से अलग हो गये हों। गुजरात और उसके आसपास के क्षेत्र में पाँचवी सदी में श्वेताम्बरों का आविर्भाव हुआ लगता है।

चौथी सदी के अन्त तक, शायद जैन धर्म दक्षिण में भी फैल गया था। दक्षिणी-पश्चिमी कनार्टक प्रारंभ से ही इस धर्म का केन्द्र रहा है। यद्यपि जैन धर्म का प्रचार सारे दक्षिण भारत में था, कर्नाटक के इस भाग में, जो तुलू भाषी है, कई सदियों तक जैन धर्म अत्यन्त प्रभावशील था। कई राज्यवंशों से उन्हें राज्याश्रय मिला तथा कई जैन, महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक एवं सैनिक पदों पर रहे। वास्तव में पश्चिमी गंग के कुछ शासक स्वयं जैन हो गये थे। कर्नाटक के राजाओं के दरबार में कई जैन विद्वान थे। उन्होंने न केवल तर्क और दर्शन पर पुस्तकें लिखीं वरन् गणित और औषध जैसे विषयों पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

मूर्तिकला और स्थापत्य में भी कर्नाटक एवं तामिलनाडू में कई स्थानों पर जैनों ने अद्वितीय कलाकृतियों का निर्माण करवाया।

12वीं सदी में गुजरात के शासकों ने जैन धर्म के महान् आचार्य हेमचंद्र को अपना विश्वासपात्र बनाकर उनकी विद्वत्ता का सम्मान किया। गुजरात के जैनों ने विद्योपार्जन की परिपाटी को बनाये रखा। 16वीं सदी में अबुल फजल ने हीर-विजय सूरी

को मुगल साम्राज्य के 21 महान विद्वानों में माना है और अकबर ने स्वयं ने उन्हें अपने दरबार में आने के लिए आमंत्रित किया था। जैनों ने दृश्यव्य-कलाओं में अपनी कीर्ति बनाये रखी। उन्होंने शैत्रुंजय, गिरनार, राणकपुर, आबू, देवगढ़, खजुराहो और उत्तर भारत में अन्य स्थानों पर सुन्दर मंदिरों का निर्माण करवाया। भारत की सांस्कृतिक धरोहर में जैनों का हिस्सा काफी महत्त्वपूर्ण है।

जैन धर्म का दर्शन इन सारे वर्षों में अपरिवर्तनीय रहा है। केवल एक ही मामले में विकास हुआ कि उन्होंने अपने स्यादवाद के सिद्धान्त की भी विस्तृत व्याख्या कर दी। इस सिद्धान्त की मूल व्याख्या इतनी स्पष्ट नहीं थी। बाद में तर्कशास्त्रियों ने इसे एक पूर्ण प्रणाली बना दिया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी जैन लेखक ने न तो इस सिद्धान्त का प्रतिवाद किया है न कोई प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। हिन्दू धर्म में वेदान्त सूत्र के बारे में जो सदियों से विवाद चल रहा है, उसकी तुलना में जैन धर्म में ऐसा कुछ भी नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि जैनों में उनके धर्म के बारे में कोई मतभेद है ही नहीं। जैन धर्म में कई छोटे-बड़े समूह हैं। परन्तु जब कोई उनके मतभेदों का विश्लेषण करता है तो उसे लगता है कि ये छोटे-छोटे मामलों को लेकर है जो कुछ कथाओं अथवा क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं। यहां तक कि दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच का मतभेद भी इसी प्रकार की तुच्छ बातों को लेकर है।

जैसे-जैसे जैन मन्दिरों और स्थानकों में धन की वृद्धि हुई, इनके अधिकारी, शक्तिशाली बनते गये। इस प्रकार के प्रभावशाली व्यक्तियों का प्रतिरोध करने के लिए समाज में नये समूह बन गये। एक इसी प्रकार का प्रतिवादी समूह दिगम्बरों में आगरा क्षेत्र में 17वीं सदी में उत्पन्न हुआ जो तेरापंथी कहलाये। उसी प्रकार श्वेताम्बरों में भी 15वीं सदी में एक नया समूह बना जिसका मानना था कि शास्त्रों में मूर्तिपूजा का कहीं भी कोई जिक्र नहीं है।

इन विवादों ने जैन धर्म पर कोई प्रभाव नहीं डाला है। फिर भी इन्होंने जैनों को अपने धर्म के बारे में सोचने को प्रेरित किया है और इस प्रकार जैन धर्म को जीवित रखा है।

हिन्दी संस्करण की भूमिका

श्री असीम कुमार रॉय की पुस्तक (A History of the Jainas) अचानक ही मेरे हाथ पड़ गई और जिज्ञासावश मैं इसे आद्योपान्त पढ़ गया। मैंने एक जैन परिवार में जन्म लिया है- संस्कार भी हैं पर धर्म के बारे में जानकारी बहुत ही नगण्य सी थी। पहली बार इतनी सारी सामग्री एक ही छोटी सी पुस्तक में उपलब्ध हो जाने से मैं अभिभूत हो उठा और मुझे लगा कि यदि यही पुस्तक हिन्दी में होती तो मेरे बहुत सारे बन्धु इसका लाभ उठा पाते। अत: मेरे मन में इसका अनुवाद करने की इच्छा प्रबल हो उठी। तब मैं एक दिन लेखक के घर गया और उनसे अनुमति माँगी। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और अपनी अनुमति और आशीर्वाद दिया।

एक अन्य पुस्तक (The Saint of Mount Abu) का अनुवाद करने का अनुभव होने से मुझे इस कार्य का बीड़ा उठाने का निर्णय लेने में कठिनाई नहीं हुई परन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि इस प्रकार की पुस्तक का अनुवाद करना कितना कठिन है। विशेष तौर से इसलिये भी कि पुस्तक में स्थानों, व्यक्तियों, पुस्तकों आदि के नाम जो मूल प्राकृत या संस्कृत में हैं, अंग्रेजी में हैं। उनका हिन्दी अनुवाद करने में त्रुटियों की काफी संभावना बनी रहती है। पूर्ण सावधानी के बाद भी जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

यहाँ यह अंकित करना उचित होगा कि मूल अंग्रेजी पुस्तक में दी गई पाद टिप्पणियाँ और संदर्भ— जिनमें सूचना का स्रोत दिया गया है, का अनुवाद नहीं किया गया है और न ही पुस्तकों की सूची (Bibliography) तथा इन्डेक्स का अनुवाद किया गया है। यह इसलिए भी कि अनुवाद करने पर कुछ अंश अंग्रेजी में ही लिखने पड़ते।

व्यस्तता के कारण समय तो अवश्य लगा पर कार्य पूर्ण होने पर मन प्रसन्नता से भर उठा। मैं अपने प्रयास को सफल तभी मानूँगा जब इसको अधिक से अधिक जिज्ञासु लोग पढ़ पायेंगे और जैनों के विगत वैभव से उनका साक्षात्कार हो सकेगा।

जैन धर्म विश्व धर्म है। इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन आज के मानव समाज की महती आवश्यकता है। महावीर का संदेश घर-घर पहुँचाना प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है। पुस्तक का हिन्दी संस्करण इस संदर्भ में यदि किंचित् भी योगदान दे पाया तो मुझे तुष्टि होगी।

इससे पहले कि मैं अपनी बात समाप्त करूं मैं लेखक श्री असीम कुमार रॉय तथा डॉ. नरेन्द्र भानावत के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूँगा जिन्होंने अनुवाद को पूरा का पूरा पढ़कर आवश्यक संशोधन किये और बहुमूल्य सुझाव दिये। मैं जैन श्वेताम्बर संघ, जवाहर नगर, जयपुर का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस अनुवाद का प्रकाशन करना स्वीकार किया है।

— सुधीन्द्र गेमावत

अनुक्रमणिका

भूमिका

परिशिष्ट

अध्याय – 1

उत्पत्ति

जैन धर्म भारत के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। हमें ठीक से ज्ञात नहीं कि इसकी नींव कब पड़ी। जैनों के अनुसार जैन धर्म अनादि है और जैन विश्व की तरह न इसका आदि है न अन्त। जैन धर्म के अधिकांश सन्त अत्यन्त प्राचीन काल के है— लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व के। फिर भी, व्यवहारिक दृष्टिकोण से हम उनके अन्तिम महान् सन्त, महावीर को ऐतिहासिक पुरुष मान सकते हैं। वे बुद्ध के समकालीन थे।

महावीर चौबीसवें और इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। तेबीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। वे महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुए थे। केवल मात्र जैन स्रोतों से महावीर की ऐतिहासिकता सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उनका लिखित रूप ही बहुत बाद में हुआ है। वस्तुतः जैनियों की दो प्रमुख धाराओं में से एक, दिगम्बर तो ये सोचते हैं कि महावीर के जमाने का कोई प्रमाण बचा ही नहीं। दूसरी शाखा जो श्वेताम्बरों की है— का कथन है कि महावीर के जमाने से मौखिक परम्परा चली आ रही है जिसे ईसा की 5वीं सदी में— महावीर के हजार वर्ष बाद, लिखित स्वरूप दिया गया। इस साहित्य से, महावीर के जीवन का कुछ लेखा-जोखा मिलता है। श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर का जन्म पटना से 43 किलोमीटर दूर वैशाली में ईसा पूर्व 599 में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। वो एक ज्ञात्रा कुल का क्षत्रिय राजकुमार था। उनका निर्वाण राजगृह के निकट पावापुरी में ईसा पूर्व 527 में हुआ। उस समय में मगध पर श्रेणिक और उसके पुत्र कुणिक का राज्य था।

महावीर की ऐतिहासिकता उपलब्ध सूचना को बौद्ध स्रोत से प्राप्त सूचना से तुलना कर, सिद्ध की जा सकती है। पाली भाषा के बौद्ध ग्रन्थ जो बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों पर आधारित हैं— बुद्ध के निर्वाण के तुरन्त बाद ही एकत्रित कर लिये गये थे ऐसा माना जाता है। उनमें बार-बार निगन्ठ (निर्ग्रन्थ) शाखा के एक नाय पुत्त का जिक्र आता है। इन स्रोतों के अनुसार नाय पुत्त बुद्ध के निर्वाण के तीस वर्ष पूर्व ही पावापुरी में स्वर्ग सिधार गये थे। बुद्ध के समय मगध के शासक बिम्बिसार और उसका पुत्र अजात शत्रु थे।

विश्वास किया जाता है कि बौद्ध ग्रन्थों में जिस नाय पुत्त का वर्णन आया है वे महावीर ही थे— जैनों के ज्ञात पुत्र । दोनों स्रोतों में उनके निर्वाण का स्थान एक ही बतलाया गया है। जिन दो राजाओं के नाम जैन स्रोतों में श्रेणिक और कुणिक

बतलाये गये हैं वे बौद्ध ग्रन्थों में बिम्बिसार और अजात शत्रु हैं। हिन्दू पुराण में भी यही नाम है। वस्तुतः दसाश्रुतस्कन्ध (जैन) में पूरा नाम श्रेणिक बिम्बिसार लिखा हुआ है।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु का पुत्र उदयभद्द था। जैन स्रोतों के अनुसार कुणिक का पुत्र उदयन था। चूँकि पुत्रों के नाम समान हैं इसलिये कुणिक को अजातशत्रु माना जाता है। बौद्ध ग्रन्थों में "जैन" शब्द का प्रयोग इस धर्म के नाम के रूप में नहीं किया गया है। कारण यह है कि महावीर और बुद्ध दोनों अपने-अपने अनुयायियों द्वारा "जिन" कहलाते थे तथा "जैन" शब्द तकनीकी तौर पर दोनों धर्मों पर लागू होता था। फिर बौद्धों के अनुसार निगन्ठ अपनी कठोर तपस्या के कारण प्रसिद्ध थे। यही विशेषता; बौद्धों और जैनों में भेद करती है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि निगन्ठ वे ही लोग हैं जो बाद में जैन कहलाए। वास्तव में पुराने जैन साहित्य जैसे "आचारांग सूत्र" और "कल्प-सूत्र" में अपने समाज को निगन्ठ ही कहा है।

जो भी हो, महावीर की ऐतिहासिकता जैन धर्म के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है। महावीर उस प्रकार से जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं हैं जैसे बुद्ध, बौद्ध धर्म के थे। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, जैन यह मानते हैं कि उनका धर्म अनादि काल से चला आ रहा है और महावीर अन्तिम बड़े संत और धर्म सुधारक थे। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार यह था कि उन्होंने जैनों के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों के स्थान पर पाँच महाव्रत बतलाये।

जैनों का बाद का इतिहास— विभाजन का इतिहास है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि महावीर के काल में भी जैनों में विभिन्न मत प्रचलित थे। एक साधु केशी नाम का था जो पार्श्वनाथ की प्रणाली को मानता था। उसकी महावीर के शिष्य गौतम से लम्बी बहस हुई और उसके बाद उसने महावीर का पांच महाव्रतों का सिद्धान्त मन से अपना लिया। इस प्रकार पार्श्व के मानने वाले और महावीर के मानने वाले पहले अलग थे परन्तु बाद में एक हो गये। श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर के समय में भी नये विभाजन होते रहे थे। पहला विभाजन महावीर को केवल ज्ञान होने के चौदह वर्षों बाद, उनके जामाता जमाली के द्वारा किया गया।विभिन्न विभाजन "निहन्व" कहलाते हैं।

श्वेताम्बरों के अनुसार सबसे बड़ा आठवाँ निह्नव महावीर स्वामी के कुछ शताब्दियों बाद हुआ। उस समय संघ दो शाखाओं में विभक्त हो गया— दिगम्बर (दिशायें जिनके वस्त्र हों) तथा श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र धारी) । यह आश्चर्य का विषय है कि दोनों शाखायें महावीर के जीवन का वर्णन अलग-अलग प्रकार से करती हैं। श्वेताम्बर कहते हैं कि महावीर 30 वर्ष की आयु तक राजकुमार की तरह रहे। उनका विवाह हुआ था तथा उनके एक पुत्री—अनोज्जा अथवा प्रियदर्शना थी। उनकी दुहिती—यशोवती, उनके गृह त्याग के बाद उत्पन्न हुई थी। दिगम्बरों का मानना है कि महावीर कभी भी शादी के बन्धन में बँधे ही नहीं।

इससे पूर्व कि हम दोनों शाखाओं की भिन्नताओं पर विचार करें, हम जैनों के मूल धार्मिक दर्शन को समझ लें। यह दोनों शाखाओं के लिए एक ही है और प्रारम्भ से एक ही रहा है।

जैन दर्शन के अनुसार, पुद्गल (Matter) जो कि अणुओं से बना है—अनादि है परन्तु कोई भी स्वरूप ले सकता है जैसे पृथ्वी, वायु आदि। सारी ही भौतिक वस्तुएँ—अन्त में अणुओं के संयोग से उत्पन्न होती हैं। आत्मायें दो प्रकार की होती हैं : सांसारिक—जिनका पुनर्जन्म होता है तथा दूसरी मुक्त—जो बंधन से मुक्त हो चुकी हैं। इन्हें पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं—वे ब्रह्माड के शिखर पर पूर्णता की स्थिति में रहती हडं क्योंकि निर्वाण प्राप्ति के बाद सांसारिक मामलों से उनका सम्बन्ध- विच्छेद हो जाता है।

जीवों से संसार भरा पड़ा है—जो पुद्गल से अलग हैं—परन्तु वे भी अनादि हैं। सूक्ष्म पुद्गल जब आत्मा के संपर्क में आता है तो आत्मा शरीर रूप धारण कर लेती है और इस प्रकार आठ प्रकार के कर्मों से युक्त होती है और एक सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। यह आत्मा से अपने सभी भवों में चिपका रहता है। कर्म का सिद्धान्त ही जैन प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। सर्वोच्च उद्देश्य है—सभी जन्मों में संचित कर्मों का नाश करना और नये कर्म बन्धनों से दूर रहना। इस उपलब्धि का सबसे प्रमुख तरीका है—तपस्या। जैन प्रणाली और बुद्ध प्रणाली में विशेष फर्क यही है कि जैन प्रणाली में तपस्या पर ज्यादा जोर दिया गया है। यहाँ तक कि धार्मिक आत्मघात भी किया जा सकता है ताकि दूसरे सभी प्रकार के जीवों की हत्या से बचा जा सके और इस प्रकार यह कार्य परम कर्त्तव्य माना जाता है।

एक जैन किस प्रकार अपने संचित कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है—का वर्णन प्राप्त है। उसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दर्शन—इन त्रिरत्नों की उपलब्धि करनी चाहिए तथा निम्न पाँच महाव्रतों का पालन करना चाहिए :

(1) अहिंसा

(2) सत्य

(3) अस्तेय

(4) ब्रह्मचर्य

(5) अपरिग्रह

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है—पार्श्वनाथ ने केवल चार महाव्रत ही बतलाये थे। महावीर ने पार्श्वनाथ के चौथे महाव्रत को जो सम्भवतः अपरिग्रह था—दो भागों में विभक्त कर दिया। ऐसा कहा जाता है कि "ब्रह्मचर्य" अपरिग्रह में ही सम्मिलित था परन्तु महावीर ने सभी संशयों को दूर करने के लिए उसे अधिक स्पष्ट कर दिया।

यह स्पष्ट है कि साधारण व्यक्ति के लिए इन महाव्रतों का पालन कठिन है। इसलिए साधारण व्यक्तियों को यह अनुमति दी गई थी कि वे अपने जीवन की परिस्थितियों के अनुसार इनका पालन करें।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य जीवन और मृत्यु के बारे में जैन मत वैदिक मत से बिल्कुल भिन्न है। ऋग्वेद में न तो पुनर्जन्म और न ही कर्म सिद्धान्त या निर्वाण का कोई जिक्र है। जीवन के प्रति वेदों का दृष्टिकोण आनन्द का है। वेदों में यज्ञ करना बतलाया गया है जिसमें पशुओं की बलि दी जाती थी। ये देवताओं को प्रसन्न करने के लिए तथा यज्ञ करने वाले को मृत्यु के पश्चात स्वर्ग दिलवाने के लिये किये जाते थे। स्वर्ग आनन्द भूमि मानी जाती थी जहां कोई मृत्यु नहीं थी। वैदिक स्वर्ग प्रकाश से परिपूर्ण था तथा जहाँ सभी इच्छाओं की पूर्ति होती थी। सोमरस पान इसी धरती पर सभी इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करने का साधन माना जाता था। वेदों में इस धरती पर वैराग्य के जीवन का कोई विचार नहीं है। वेदों में पुरोहितों की कल्पना की गई है जो बलि के समय सही मंत्रों का उच्चार कर सकें। दूसरी और जैनों में न तो कोई मंत्र है और न ही कोई पुरोहित। वास्तव में उनके महान संत तीर्थंकर—क्षत्रिय थे न कि ब्राह्मण। इसी प्रकार ध्यान (योग) , परमाणु सिद्धान्त (वैशेषिक), पदार्थ की अविनाशिता (सांख्य) आदि जैन विचारों को भारतीय दर्शन में उन दर्शनों के करीब ले जाते हैं जो वेदों पर आधारित नहीं है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि इन अवैदिक प्रणालियों के प्रणेता, कपिल, कणाद आदि "तीर्थक" कहलाते हैं। कोश निर्माताओं के अनुसार 18 या उससे अधिक तीर्थक थे। तीर्थंकर से इस नाम की समानता ध्यान देने योग्य है। (आश्चर्य है बौद्ध भी उन लोगों को जिनके विचार धर्म विरोधी थे तीर्थक ही कहते थे।)

महावीर और कुछ सीमा तक बुद्ध भी, वैदिक धर्म के अस्तित्व को नकारते हैं। जब उन्होंने अपने यौवन में साधु होने के लिए गृह त्याग किया—वे किसी वैदिक या ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिवाद नहीं कर रहे थे। वास्तव में ऐसा लगता है कि वे वही कर रहे थे जो भारत के उस भाग में कोई भी धार्मिक वृत्ति का व्यक्ति करना उचित समझता। बुद्ध ने प्रयास करके घोर तपस्या करना छोड़ दिया। इस प्रकार जब उन्होंने अपना नया मध्यम मार्ग चलाया—तब वे जैनों और अन्य तपस्वियों द्वारा अपनाई गई धार्मिक वृत्तियों के बारे में अपना रुख स्पष्ट कर रहे थे।

जैन और बुद्ध धर्म के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके धर्म पारलौकिक वस्तुओं के बारे में ज्यादा चिन्ता नहीं करते। उनके पास कोई दैविक सिद्धान्त भी नहीं हैं। इसके विपरीत आज के हिन्दू धर्म में इन्हीं बातों का प्राधान्य है। वैदिक काल के बाद के साहित्य—उपनिषद् आदि— में कुछ लोगों में— ऐसे विचारों के उभरने के आसार नजर आ रहे थे। इससे लगता है—एक नये उत्तर वैदिक धर्म का उदय हो रहा था। वृहद्कारण्य उपनिषद् —सबसे पहिले के उपनिषदों में से एक है। बुद्ध और महावीर के जीवन काल के सौ वर्षों के भीतर-भीतर ही इसका संकलन हुआ लगता है।

इस उपनिषद् में कुछ संवाद विदेह में (वर्तमान मिथिला) में हुए थे—जो कि मगध से अधिक दूर नहीं है—जहाँ ये दोनों महान् गुरु अपना धर्म प्रचार कर रहे थे। इस प्रकार स्थान और समय में—उपनिषदिक एवं बौद्ध-जैन-युग—दोनों एक दूसरे के ज्यादा दूर नहीं है। फिर भी ऐसा लगता है कि दोनों की दुनिया अलग-अलग हो। उदाहरणार्थ हम वृहदाकारण्य उपनिषद् के उस प्रसंग को लें जिसमें विदेह के राजा जनक याज्ञवलक्य से प्रश्न पूछते हैं :

जनक विदेह : हे याज्ञवलक्य जब सूर्य अस्त हो जाय, चन्द्रमा डूब जाय, अग्नि समाप्त हो जाय और ध्वनि शांत हो जाय, तब मनुष्य के लिए कौनसी ज्योति बच जाती है ?

याज्ञवलक्य : आत्मा ही वास्तव में प्रकाश है, क्योंकि केवल आत्मा में प्रकाश होने से ही मनुष्य बैठता है, चलता है, अपना कार्य करता है और लौटता है।

जनक विदेह : वो आत्मा कौन है ?

याज्ञवलक्य : वो जो हृदय में अवस्थित है, जो प्राणों (संज्ञाओं) द्वारा आवृत्त है, जो ज्योतिर्मय है, ज्ञानवान है।

स्पष्ट है कि ये प्रश्न और उत्तर पारलौकिक हैं। उनका किसी मानवीय क्रियाकलापों से सम्बन्ध नहीं है।

इसकी तुलना में हम उन प्रश्नों पर विचार करें जो मगध के सम्राट अजातशत्रु ने उन छः अवैदिक संतों से पूछे थे जो उसके साम्राज्य में धर्म प्रचार कर रहे थे। उनमें से एक स्वयं महावीर नाय पुत्त भी थे।

जो प्रश्न मगध सम्राट अजातशत्रु ने पूछा वह इस प्रकार था :

"दुनिया के विभिन्न धंधों में होने वाले लाभ की जानकारी सभी को है परन्तु क्या तपस्या से होने वाले लाभों को बतलाना संभव है ?" "सन्दिथिक्कम सामन फलम"। सभी छः गुरुओं ने अलग-अलग उत्तर दिये। इस क्षण उन उत्तरों से हमारा कोई सरोकार नहीं है परन्तु जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि यह प्रश्न बिल्कुल सांसारिक है और एक राजा के लिए बहुत ही स्वाभाविक भी, परन्तु राजा जनक ने जो प्रश्न पूछे थे वे बिल्कुल अन्य धरातल के थे।

इस प्रकार हम एक प्रमेय (Hypothesis) मान लेते हैं कि हम दो भिन्न जातियों के बारे में बात कर रहे हैं—एक अवैदिक और दूसरी उत्तर वैदिक—जिनके दृष्टिकोण एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न थे। बौद्ध शास्त्रों के अनुसार उस समय उत्तर भारत में 16 जातियाँ रहती थीं। जहाँ वे रहती थीं उन स्थानों के नाम भी जातियों के नामों के अनुसार पड़ गये थे। उन जातियों में कुरु, पांचाल, मच्छ, सौरसेन—उत्तर वैदिक एवं ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। अपने धर्म के बारे में बुद्ध ने और जिस पुराने धर्म में महावीर ने सुधार किये—और जिन लोगों को उपदेश दिये थे वे मागध, अंग, कासी,

कौशल, मल्ल, वज्जी आदि थे। इनके धर्म अवैदिक थे। इस प्रमेय में एक प्रारंभिक कठिनाई है। वज्जियों में आठ कुल सम्मिलित हैं—जिनमें लिच्छवी और विदेह सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।बुद्ध के समय में विदेह एक गणतन्त्र था। यह बात इस तथ्य से मेल नहीं खाती कि जनक विदेह का राजा था या इससे कि वह ब्राह्मण या उत्तर वैदिक धर्म का पालन करता था। संभवतः बुद्ध के समय तक विदेह गणतंत्र हो गया था। इस दूसरी कठिनाई से निकलने का एक रास्ता यह हो सकता है कि हम यह कल्पना करें कि विदेह के दो समूह या धर्म थे—उत्तर वैदिक और अवैदिक—जो दोनों समकालीन थे। सम्भवतः यही काशी और कौशल के लिए भी सत्य था, जहाँ दोनों जातियाँ साथ-साथ रहती थीं। जब एक धर्म का नेता उस क्षेत्र में आता था तब उसके अनुयायी उसके पास आते थे जबकि दूसरे लोग उसकी अवज्ञा (ignore) करते थे। आज भी स्थिति यही है। जब कोई हिन्दू धर्म का गुरु किसी शहर में आता है तब उसके अनुयायी उसका स्वागत-सत्कार करते हैं जबकि मुसलमान उसकी यात्रा के बारे में पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अंग देश (भागलपुर) और मगध (पटना और गया क्षेत्र) के लोग वैदिक धर्म का पालन नहीं करते थे क्योंकि वैदिक लोग उनसे घृणा करते थे। अथर्ववेद (22:12) में एक श्राप है "गान्धार, मुंजावंत, अंग और मगधों को हम बुखार भेजते हैं जैसा कि किसी व्यक्ति को कोष भिजवाया जा रहा हो।" वैदिक धर्म के मानने वाले, उन आर्यों को जो उनका धर्म नहीं मानते थे, व्रात्य कहते थे। वेदों में और अन्य वैदिक साहित्य जैसे श्रौत सूत्र एवं ब्राह्मणों में व्रात्यों का अक्सर उल्लेख आता है। अथर्ववेद की सम्पूर्ण पन्द्रहवीं पुस्तक व्रात्यों के बारे में ही है। दुर्भाग्यवश अथर्ववेद की इस पुस्तक का तरीका स्पष्ट नहीं है तथा इसमें से व्रात्यों के विश्वासों के बारे में ज्यादा ज्ञान नहीं हो सकता। एक बात अवश्य स्पष्ट है । मागध किसी न किसी प्रकार से व्रात्यों से सम्बन्धित थे। अथर्ववेद में लिखा है (XV 2.1) "वह जो पूर्व में है, विश्वास वैश्या जैसा है मागध मित्र है, विवेक वस्त्र है_उसी प्रकार दक्षिण में मागध व्रात्य का मित्र है, अन्य दो दिशाओं में मागध व्रात्य का हास्य और गर्जन जैसा है।" मागध का तात्पर्य क्या है—यह स्पष्ट नहीं है। इसका मतलब मगध का निवासी अथवा कोई चारण या भाट। यजुर्वेद भी व्रात्यों पर कृपालु नहीं है। वे नरमेध (पुरुषमेध) में बलि होने वाले लोगों की सूची में सम्मिलित हैं। सूत्रों में व्रात्यों का अरहंत (साधु) और योद्धा (वीरों) की तरह उल्लेख किया है जो ब्राह्मणों में ब्राह्मण और क्षत्रियों के समकक्ष है। अरहंत और "अरहत" शब्द की साम्यता—जिनका प्रयोग बुद्ध और महावीर दोनों के अनुयायियों ने किया है—ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस काल की विवेचना की जा रही है उसमें महावीर एक व्रात्य धर्म का प्रचार कर रहे थे जो भारत के उस भू-भाग में प्रचलित था। बाद के दिनों में यही धर्म जैन धर्म कहलाया। इस क्षेत्र में बहुत सारे धर्म कठोर तपस्या का प्रचार करते थे। गौतम जो बाद में बुद्ध हो गये, पहिले प्रमुख धारा से जुड़े हुए थे।

बुद्ध का प्रमुख परिवर्तन यह था कि उन्होंने इस प्रकार इन धर्मों की कठिन तपस्या को अनुचित बतलाया। जैन योग भी पातंजली के योग की तरह—एकान्त में ध्यान करना ही है। हमारे पास सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रतीक स्वरूप जंगल में बैठे हुए एक तपस्वी की मूर्ति है। किसी मुद्रा पर पाये गये इस चित्र में एक आदमी जंगल में जानवरों से घिरा बैठा है। आदमी के पास मुखौटा है जिसमें सींग भी हैं। इस मूर्ति के बारे में अलग-अलग अर्थ लगाये गये हैं जैसे कुछ लोग इसे शिव मानते हैं जो पशुपति के रूप में हैं अथवा शिव जो महायोगी के रूप में है। परतु इसमें सन्देह नहीं कि यह भी मनुष्य या दैविक तपस्वी का स्वरूप है। इस प्रकार यद्यपि वैदिक लोगों के लिये संन्यास का विचार विदेशी था परन्तु यह भारत में प्रागऐतिहासिक काल से चला आ रहा है।

मोहन-जोदड़ो में जो नग्न पुरुष की पत्थर की मूर्ति निकली है उसमें और लोहानीपुर (बिहार) में तीर्थंकर की मूर्ति में जो समानता है उसे कई बार इंगित किया गया है परन्तु 2500 वर्षों के समय के अन्तराल को देखकर यही लगता है कि यह समानता केवल आकस्मिक है।

जैन धर्म किसी पूर्व वैदिक काल से चले आ रहे धर्म की निरन्तरता है— यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। जून 1947 में श्री जी.सी. पाण्डे ने लिखा था—वैदिक मान्यता में क्रिया-काण्ड विरोधी झुकाव—पूर्व वैदिक काल के किसी संन्यासी धर्म का प्रभाव है। जैन धर्म उसी पूर्व वैदिक विचारधारा की निरन्तरता का प्रतीक है। बौद्ध धर्म भी उसी विचारधारा से उत्पन्न हुआ है परन्तु उस पर वैदिक विचारधारा का प्रभाव गहन है। इसी प्रकार श्री ए.एल. बाथम कहते हैं, "गंगाघाटी के पूर्वी क्षेत्र में, पश्चिमी क्षेत्र की तरह ब्राह्मण धर्म की जड़ें इतनी गहरी नहीं थीं वरन् अन्य अनार्य विचारधाराएँ भी काफी मजबूत थीं।" बाथम का यह तर्क कि सारे अन्य विश्वास—अनार्य थे— मानने योग्य नहीं है। जैन धर्म के सारे धार्मिक साहित्य में कहीं भी अनार्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इस प्रकार इन पूर्व वैदिक विश्वासों में से एक की उत्पत्ति भारतीय आर्य थी। वैदिक लोगों के पूर्वी भारत में आने से पूर्व भी यह अस्तित्व में थी। आज भी यह जैन धर्म के रूप में जीवित है। बौद्ध और जैन धर्म वैदिक विचारों से इतने प्रभावित नहीं हुए जितना वैदिक विचारों पर इन धर्मों का प्रभाव पड़ा है। पूर्वी गंगाघाटी के जैन धर्म और अन्य पूर्व वैदिक धर्मों ने वैदिक धर्म को प्रभावित कर इसे ब्राह्मण धर्म में परिवर्तित किया और जो बाद में हिन्दू धर्म बन गया। इन्हीं पूर्व वैदिक काल के धर्मों से ब्राह्मण धर्म ने तपस्या, ध्यान, योग, कर्म सिद्धान्त, आत्मा का पुनर्जन्म, निर्वाण तथा जीवन के निराशाजनक दृष्टिकोण के बारे में सीखा है।

इस प्रकार कई प्रतिस्पर्द्धात्मक धर्मों में से 2 (तीन यदि आजिविकों को भी सम्मिलित किया जावे) ही विजयी साबित हुए। ऐसा सम्भवतः मुख्यतया बुद्ध और महावीर की नेतृत्व एवं संगठनात्मक योग्यता के कारण ही हुआ।

उस समय के धार्मिक वातावरण के बारे में एक बात स्पष्ट है। उस समय धार्मिक व्यक्तियों में तपस्वियों को सर्वाधिक आदर दिया जाता था। तपस्वी के लिये यह आवश्यक भी नहीं था कि वह ब्राह्मण या क्षत्रिय जैसे उच्च वर्ग का हो। एक दास यदि साधु होकर किसी धर्म में सम्मिलित हो जाता था तो उसका पूर्व स्वामी भी उसका आदर करता था। एक बार बुद्ध ने मगध के सम्राट अजातशत्रु से पूछा कि यदि वह यह सुने कि उसका कोई दास भागकर साधु बन गया है तथा धार्मिक संघ में सम्मिलित हो गया है तो क्या वह उसे बुलाकर पुनः दास का कार्य करने के लिये कहेगा।

अजातशत्रु ने उत्तर दिया "नहीं। इसके विपरीत हमें उसका सम्मानपूर्वक आदर करना चाहिये तथा अपने स्थान से उठकर उसका अभिवादन कर, उसे बैठने के लिये आग्रह करना चाहिये तथा उसे वस्त्र और पात्र भेंट कर स्वीकार करने के लिये निवेदन करना चाहिये।" एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि वह दास कौनसा धर्म स्वीकार करेगा— इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के साधुओं के प्रति दृष्टिकोण का कई लोगों ने लाभ उठाया। शासकों ने भी संभवतः साधुओं के प्रति श्रद्धा का अनुचित लाभ लिया। वे अपने गुप्तचरों को साधु के भेष में पड़ौस के शत्रु राष्ट्रों में भेजा करते थे। साधारण जनता इस प्रकार की धोखाधड़ी से अनभिज्ञ न थी और यदि कभी एक-दो अनजान व्यक्ति साधुओं के भेष में गाँवों में पाये जाते तो उन पर गुप्तचर होने का संदेह किया जाता था। महावीर ने केवली होने से पूर्व करीब छः या सात वर्षों तक मक्खलि गोशाल के साथ यात्राएँ की थीं। दो बार उन पर गुप्तचर होने का संदेह किया गया था तथा ग्रामीणों द्वारा उन्हें सताया गया था। वास्तव में, एक बार उन्हें कुएं में फेंक दिया गया था, परन्तु पार्श्वनाथ की कुछ स्त्री अनुयायियों ने उन्हें पहिचान कर बचा लिया।

उस समय एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि पूर्वी भारत में ब्राह्मण अपना प्रभुत्व अन्य जातियों पर जमाने का प्रयास कर रहे थे। उस क्षेत्र के क्षत्रिय यह बात मानने को तैयार नहीं थे। "अम्बत्थ सूत्र" में बुद्ध का वार्तालाप एक ब्राह्मण अम्बत्थ से बताया गया है। उस समय बुद्ध कौशल राज्य में थे। सम्भवतः यह राष्ट्र उनके धार्मिक कार्यक्षेत्र की पश्चिमी सीमा थी।

जब अम्बत्थ बुद्ध के समक्ष आया तो उसने बेतुका व्यवहार किया। बुद्ध ने एक वयोवृद्ध गुरु के प्रति असम्मान प्रदर्शित करने के लिये उसे बुरा-भला कहा। तब अम्बस्थ ने शिकायत की कि गौतम—शाक्य (जो कि क्षत्रिय थे) जो निम्न श्रेणी के हैं — के लिये यह कतई उचित नहीं है कि वे न तो ब्राह्मणों की पूजा करें, न उन्हें कोई महत्त्व दें, न आदर सत्कार करें और न ही कोई उपहार दें।

बुद्ध ने उसे समझाया कि किसी व्यक्ति के केवल ब्राह्मण की तरह जन्म लेने मात्र से ही वह इन बातों की अपेक्षा नहीं कर सकता। ऐसी पूजा का अधिकारी या तो

कोई त्यागी-संन्यासी हो सकता है या कोई ऐसा ब्राह्मण जिसने अपने ज्ञान और चरित्र से पूर्णता प्राप्त कर ली हो।

मजेदार बात यह है कि जैन सूत्रों में ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जिसमें ब्राह्मण अपने जन्म के कारण उच्चता का दावा करता है। महावीर के अनुयायियों ने इसका घोर विरोध किया। सूत्रकृतांग में निम्न संवाद है :

एक वैदिक पुरोहित —"जो हमेशा दो हजार स्नातकों (तपस्वियों) को भोजन कराता है, बहुत पुण्य कमाकर देवत्व को प्राप्त होता है"

आर्द्र क—"जो हमेशा दो हजार पवित्र बिल्लियों (ब्राह्मणों) को भोजन कराता है, उसे नर्क में बड़े दुःख भोगने पड़ेंगे —जहाँ भूखे जंगली जानवर उसे घेरे रहेंगे।"

इससे स्पष्ट है कि केवल जन्म के आधार पर ब्राह्मण उच्चता का अधिकार नहीं माँग सकते थे। एक ब्राह्मण को भी तपस्वी की तरह गुणों की उपलब्धि कर अपना स्थान बनाना पड़ता था।

अधिकांश तपस्वियों को कठिन साधना करनी पड़ती थी। उनमें से कई वर्षभर पूर्णतया नंगे रहते थे। कई लोग आश्चर्य करते थे कि आखिर तपस्वी लोग इतना कठोर जीवन क्यों बिताते हैं ? मगध के सम्राट अजातशत्रु के मन में भी ऐसा ही प्रश्न उठा था। उसने सोचा कि सभी व्यक्ति चाहे वे घुड़सवार हो या सारथी, धोबी हों या जुलाहे, टोकरी बनाने वाले हों या कुम्हार—अपनी-अपनी मेहनत का फल इसी जीवन में प्राप्त करते हैं परन्तु क्या किसी साधु का जीवन जीने का कोई प्रत्यक्ष और तुरन्त लाभ है ? जब पहली बार यह विचार सम्राट के मन में आया, उसके मंत्रियों ने कुछ प्रसिद्ध सन्तों से, जो अपने-अपने पंथों (विचारधाराओं) के प्रमुख थे, विचार-विमर्श करने की सलाह दी। अजातशत्रु के मंत्रियों ने निम्न छः धार्मिक गुरुओं के नाम लिये—

(1) पूरण काश्यप (2) मक्खलि गोशाल (3) अजीत केशकम्बलि

(4) प्रकुद्ध कात्यायन (5) संजय बेलट्ठि पुत्त. (६) निगंठ नाय पुत्त

जो उत्तर इन गुरुओं ने दिये वे बिन्दु से परे थे। उन्होंने सम्राट के प्रश्नों का सीधा उत्तर देने की बजाय वास्तव में इस बहाने जीवन और मानव के भविष्य के बारे में अपना-अपना दृष्टिकोण बतलाने का प्रयास किया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात यह थी कि उनमें से किसी ने भी आत्मा, परमात्मा अथवा अन्य अमूर्त विषयों के बारे में कोई बात नहीं की। छः में से केवल एक संजय बेलट्ठि पुत्त ने ऐसी वस्तुओं की सम्भावनाओं को समझा परन्तु वह पूर्णतया नास्तिक था और उसका अजातशत्रु के प्रश्न का उत्तर था "यदि तुम मुझसे पूछोगे कि क्या कोई दूसरा संसार है— और यदि मैं सोचता हूँ कि ऐसा हो सकता है तो मैं यही कहूँगा। परन्तु मैं यह बात कहता नहीं हूँ। मैं इससे इन्कार भी नहीं करता और मैं यह भी नहीं कहता कि संसार है, न यह कि

दूसरा संसार नहीं है । और यदि आप मुझसे पूछोगे कि प्राणी आकस्मिक रूप से उत्पन्न होते हैं, या यह कि क्या अच्छे या बुरे कर्मों का कोई फल होता है, या यह कि क्या कोई मनुष्य जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया हो, मृत्यु के बाद अमर रहेगा, तो इन प्रश्नों के लिये भी मेरा यही उत्तर है।"

जो गुरु किसी भी प्रश्न का कोई भी उत्तर नहीं दे पाता उसके अधिक अनुयायी नहीं हो सकते। यदि संजय बेलट्ठि पुत्त अपने पीछे कोई धार्मिक समूह छोड़ गया तो ज्यादा समय तक नहीं चला। वास्तव में भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में कोई ज्यादा नास्तिक नहीं हुए। परन्तु अपने जीवनकाल में संजय काफी प्रभावशाली था। महावग्ग प्रथम, 23 एवं 24 में हमें बतलाया गया है कि भगवान बुद्ध के शिष्यों में सबसे अधिक विशिष्ट जोड़ी सारिपुत्त और मोग्गल्यान की थी जो बौद्ध धर्म में परिवर्तन से पूर्व, संजय के अनुयायी थे और जिन्होंने अपने पूर्व गुरु के 250 शिष्यों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करवाया था।

यहां एक प्रश्न काफी मजेदार है। क्या संजय की अनीश्वरवादिता ने जैनों के स्याद्वाद या सप्तभंगी न्याय के विचार को प्रभावित किया था ? जेकोबी का कथन है, "इस प्रकार, मेरी राय में, संजय की अनीश्वरवादिता के विरुद्ध महावीर ने स्याद्वाद की स्थापना की। जैसा कि अज्ञानवाद घोषित करता है कि हमारे अनुभव से परे किसी भी वस्तु का अस्तित्व है या नहीं अथवा अस्तित्व और अन-अस्तित्व साथ-साथ में है—को न तो स्वीकारा जा सकता है और न अस्वीकार ही किया जा सकता है। इसी प्रकार स्याद्वाद घोषित करता है। एक दृष्टिकोण से जिसे आप स्याद्अस्ति कहते हैं वस्तु का अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं। दूसरे दृष्टिकोण से जिसे स्याद्नास्ति कहते हैं नकार सकते हैं, तथा अस्तित्व और अन-अस्तित्व को भी स्वीकार सकते हैं, अलग-अलग समय में इस दृष्टिकोण को स्याद् अस्ति-नास्ति कहते हैं। यदि आप अस्तित्व और अन-अस्तित्व को एक ही समय में एक ही दृष्टिकोण से स्वीकारना चाहते हैं, आप कह सकते हैं कि वस्तु के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और उसे स्याद अव्यक्त कहते हैं।

उसी प्रकार कुछ परिस्थितियों में अस्तित्व को स्वीकारना सम्भव नहीं होता तब उसे स्याद्-अस्ति-अव्यक्त तथा जब अन-अस्तित्व को स्वीकारना सम्भव न हो तो उसे अस्ति-नास्ति-अव्यक्त कहते हैं।

"यही जैनों का प्रसिद्ध 'सप्तभंगी न्याय' है। क्या कोई भी दार्शनिक ऐसा सत्य प्रतिपादित कर सकता है ? नास्तिकों के सूक्ष्म विचारों ने उस समय के अन्य विचारकों को सम्भवतः बौखला कर दिशाभ्रमित कर दिया था। परिणामस्वरूप उन्हें स्याद्वाद, अज्ञानवाद के भ्रमजाल से निकलने का एक अच्छा मार्ग दिखा होगा। इस प्रकार जिस अस्त्र से नास्तिकों ने अपने शत्रुओं पर प्रहार किया, वह उन्हीं के विरुद्ध हो गया। कौन जानता है कि उनके कितने अनुयायी सप्तभंगी न्याय के सत्य से प्रभावित होकर महावीर के भक्त हो गये।"

अजीत केशकम्बली भौतिकवादी था। बालों से निर्मित वस्त्र पहनता था इसलिये उसका नाम केशकम्बली पड़ा। उसका अजातशत्रु को उत्तर था --

"हे सम्राट! दान अथवा बलिदान या भेंट नाम की कोई चीज नहीं है। न अच्छे बुरे कर्मों का कोई फल है। न यह संसार है न कोई अन्य संसार है। मूर्ख और बुद्धिमान एक समान काटे जा सकते हैं— और नष्ट किये जा सकते हैं और मृत्यु के बाद कुछ नहीं रहता ।"

अजीत का शिष्य पयासी था—जो अजीत के विचारों का प्रचारक था। ये लोग जिन्हें चार्वाक कहते हैं — उन्होंने अपने कोई पंथ नहीं कायम किये। परन्तु भारतीय इतिहास में समय-समय पर चार्वाक होते रहे हैं। उनका उल्लेख हमारे महाकाव्यों में भी है। उदाहरणार्थ रामायण में भी एक जाबाली नाम का चार्वाक था। यह दशरथ की मृत्यु के बाद भरत के साथ राम को अयोध्या लौटने का निवेदन करने गया था। सभी चार्वाकों की तरह वह भी नीति निपुण नहीं था और उसने राम को कोई ऐसी बात कही थी जो परम्परागत ज्ञान के विरुद्ध थी। जाबाली ने राम से कहा कि मृत पिता के वचनों का मान रखने के लिए वनवास के कष्टों को झेलना मूर्खता है। उसी प्रकार महाभारत में एक चार्वाक ने युधिष्ठिर से कहा था-वह एक पापी है क्योंकि उसने अपने अधिकांश परिवारजनों को मरवा डाला।

तीन अन्य गुरु— पूरण काश्यप, प्रकुद्ध कात्यायन तथा मक्खलि गोशाल ने ऐसे उत्तर दिये जो ऊपर दिये गये उत्तरों से ज्यादा भिन्न नहीं थे। मक्खलि गोशाल बाद में आजीवक संप्रदाय का मुखिया बन गया। उसने सम्राट अजातशत्रु को उत्तर देते हुए कहा, "हे सम्राट ! ऐसा कोई अन्तिम या दूर का कारण नहीं है जो प्राणी को नीचे गिरावे। वे बिना किसी कारण ही हेय हो जाते हैं। किसी स्थिति या चरित्र को प्राप्त होना प्राणी के स्वयं के या अन्य किसी के कर्मों पर या मानवीय प्रयासों पर आधारित नहीं है। शक्ति या ऊर्जा या मानवीय ताकत या मानवीय प्रबलता नाम की कोई वस्तु नहीं है_।"

इस प्रकार से देखा जाये तो मक्खलि गोशाल जो कि आजीविकों का मुखिया था, का दृष्टिकोण— एक प्रकार का "नियतिवाद" था। यह संप्रदाय कई सदियों तक जीवित रहा। अशोक ने अपने एक स्तम्भ-शिलालेख में उसका उल्लेख किया है। अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ ने एक गुफा गया जिले में बारबार पहाड़ी पर— इस सम्प्रदाय को अर्पित की है। सम्भव है कि आजिविक के शेष रहे लोग—दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में मिल गये हों। वस्तुतः होनले ने आजीविक पर अपने प्रसिद्ध लेख "एनसाइकलोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड ईथिक्स" में सुझाव दिया है कि जब मक्खलि गोशाल ने महावीर को गालियाँ दीं —तब एक समूह आजीविकों से दूर हो कर अलग हो गया था। होर्नल के अनुसार यही टूटा हुआ समूह जैनों की दिगम्बर शाखा का केन्द्र

स्थल बना। सम्राट अजातशत्रु को निगंठ नायपुत्त ने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था, "एक निगन्ठ (एक व्यक्ति जो बन्धन मुक्त है), हे सम्राट, चार बाधाओं से बँधा हुआ है। वह सभी जल से और सभी बुराइयों से अलग रहता है। वह सभी पापकर्मों को धो देता है और बुराइयों को दूर रखते हुए परिपूर्ण जीवन जीता है। इस प्रकार यह चार प्रकार का स्व-नियंत्रण है। और चूँकि इस प्रकार निगन्ठ इन चार प्रकार के बन्धनों से बँधा हुआ है इसलिये उसे गत्तातो (जिसके हृदय ने उच्चतम लक्ष्य प्राप्त कर लिये हो) मत्तातो (जिसका हृदय नियंत्रण में हो) तथा ठित्तातो (जिसका हृदय अविचलित हो जाय) कहते हैं।

निगंठ नायपुत्त—जैन तीर्थंकर महावीर ही हैं। निगंठ नायपुत्त के उक्त वक्तव्य में बहुत कम ऐसा है जो पूर्णतया जैन सिद्धान्तों से सम्बन्धित हो। उपर्युक्त में से केवल एक सम्भावित प्रतिबन्ध प्रथम प्रतिबन्ध ही है — जो पानी से सम्बन्धित है। जैन नियमों के अनुसार ठंडा पानी न पीने के पीछे आधार यही है कि पानी में जीव होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि निगंठ नायपुत्त के शब्द चलते-चलते काफी विकृत हो गये हैं। बौद्ध भी एक विरोधी सम्प्रदाय के विचारों को बतलाने में इतनी सावधानी क्यों बरतने लगे। उन्होंने जानबूझकर विरोधी सम्प्रदाय के गुरु के शब्दों को तोड़-मरोड़ दिया होगा। साथ ही यह याद रखना होगा कि जैन अजातशत्रु को महावीर के प्रति मित्रवत मानते हैं। उसने स्वयं बुद्ध से अपनी वार्ता में नायपुत्त के शब्दों को सही-सही बतलाया होगा।

वास्तव में निकट के परीक्षण से यह प्रतीत होगा कि मक्खलि गोशाल और निगंठ नायपुत्त के उत्तर यद्यपि कितने ही विरोधी लगें, वे आजीविकों तथा जैनों के बीच मुख्य दार्शनिक मतभेदों को उजागर करते हैं। आजीविक—स्वतंत्र इच्छा के अस्तित्व को नकारते हैं।गोशाल कहता है, "कि किसी भी अवस्था की प्राप्ति मानवीय प्रयासों पर आधारित नहीं है।" इसके विपरीत निगंठ नायपुत्त बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि जो प्रतिबन्ध एक निगंठ अपनाता है वे स्व-आरोपित होते हैं। दूसरे शब्दों में निगंठ की तपस्या उसकी स्वतंत्रत इच्छा का परिणाम है।

इस प्रकार ईसा से छठी शताब्दी पूर्व मगध में, उस समय के धार्मिक वातावरण में दो बातें प्रमुख थीं। प्रथम तो यह कि उस क्षेत्र में सबसे सम्माननीय व्यक्ति तपस्वी हुआ करते थे भले ही वे किसी भी सम्प्रदाय या मार्ग के हों। दूसरे यह कि वे तपस्वी—तपस्या इसलिये नहीं करते थे कि उन्हें स्वर्ग मिले अथवा अन्य सुख के साधनों की उपलब्धि हो। इस संसार में उन्हें जो मिलता था वह था राजा से लेकर न्यूनतम व्यक्ति तक सभी का आदर।

तपस्वी का जीवन पूर्णतया समर्पित लोगों के लिये था। साधारण व्यक्ति अपनी धार्मिक प्रवृत्ति की संतुष्टि हेतु देवी-देवताओं की पूजा करता था। उस समय मगध में सबसे अधिक लोकप्रिय देवता यक्ष हुआ करते थे। बौद्ध और जैन शास्त्रों में यक्ष, यक्षणियों के मंदिरों के बारे में उल्लेख है। वास्तव में प्राचीन जैन ग्रन्थों के अनुसार उत्तर

भारत के प्रत्येक नगर में विभिन्न यक्षों को समर्पित मंदिर थे। बहुपुत्र का मंदिर होने का उल्लेख जैन एवं बौद्ध दोनों के ग्रन्थों में है। भगवती सूत्र जो कि जैनों का पाँचवाँ अंग है, के अनुसार महावीर स्वयं इस मंदिर में गये थे।

ये यक्ष अवैदिक देवता थे। इसमें संदेह नहीं कि यक्ष का नाम ऋग्वेद में छः बार आया है परन्तु वहाँ उसका तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। वैदिक इन्डेक्स कहता है कि लुडविग के अनुसार इसका तात्पर्य भोज या पवित्र प्रथा है। यही शब्द अथर्ववेद में भी कई बार आया है। विटने ने इसका तात्पर्य "राक्षस" अथवा "विलक्षण" से लगाया है । जो भी हो, वैदिक लोगों ने यक्ष को कभी भी देवता नहीं माना।

बाद के जैन इतिहास में यक्ष तीर्थंकरों के सेवक हो गये।

परम्परागत जैन विश्वास यह है कि जैन धर्म भूतकाल में भी इसी प्रकार का था और 24वें तीर्थंकर महावीर ने अपने समय में बिना किसी परिवर्तन के, उसे इसी रूप में आगे बढ़ाया। जैन शास्त्रों से यह स्पष्ट है कि यह उत्तर पूर्णतया सत्य नहीं है। यह सत्य है कि महावीर के समय में एक पुराना धर्म भी था जिसके आदर्श और तौर-तरीके ठीक वैसे ही थे जैसे महावीर के और उनके अनुयायी उसको पुरातन पंथी कहा करते थे। परन्तु यह भी सही है कि महावीर ने पुरातन धर्म के व्यवहार में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये।

श्वेताम्बर धार्मिक शास्त्रों में आज जो लोग जैन कहलाते हैं—उस समय निगंठ कहलाते थे। निगंठों के साथ ही, मगध में एक अन्य सम्प्रदाय था जो पार्श्व के अनुयायी थे। महावीर के माता-पिता स्वयं पार्श्व के अनुयायी थे। यद्यपि बौद्ध दोनों सम्प्रदायों को निगंठ कहते हैं परन्तु जैन शास्त्र कभी भी निगंठों और पार्श्व के अनुयायियों को एक नहीं मानते। इनके बीच दो भेद प्रमुख थे। पार्श्व के अनुयायी वस्त्र पहिन सकते थे और उन्हें केवल चार व्रतों का पालन करना पड़ता था जबकि महावीर के अनुयायियों को पाँच व्रतों का। परन्तु वे एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं थे। उनका मानना था कि दोनों एक ही उद्देश्य को लेकर चल रहे हैं। बाद में पार्श्व के अनुयायी भी महावीर के पंथ में सम्मिलित हो गये। उत्तराध्ययन (23वां प्रकरण) गौतम के बारे में लिखता है कि महावीर के सबसे प्रमुख शिष्य ने पार्श्व के अनुयायियों के नेता केशी को महावीर के सम्प्रदाय में किस प्रकार दीक्षित किया —

1. पार्श्व नाम का एक जिन था, एक अर्हत जो लोक-पूजित था— पूर्ण प्रकाशित सा सर्वज्ञ था —धर्म का पैगम्बर एक जिन था।
2. और इस विश्व को प्रकाशित करने वाले पुरुष का एक प्रसिद्ध और युवा शिष्य था—श्रमण केशी, जिसने सभी विज्ञानों पर और सही आचार पर अधिकार प्राप्त कर लिया था।
5. उस समय धर्म का एक पैगम्बर भी रहता था जो जिन कहलाता था और सारी दुनिया उसे वर्द्धमान के नाम से जानती थी।

9. और विश्व को प्रकाशित करने वाले का एक प्रसिद्ध शिष्य गौतम था जिसने सारे विज्ञानों पर और सही आचार पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया था।
10. इन दोनों के शिष्य जो आत्म संयमी थे और जो संयम में रहते थे जो गुणवान थे—तथा अपनी आत्मा को सुरक्षित रखते थे—ने निम्न प्रकार से विचार किया :
11. कि क्या हमारा धर्म (पार्श्व का धर्म) सही है या दूसरा धर्म (महावीर का धर्म) सही है ? क्या हमारा आचरण और हमारे सिद्धान्त सही हैं या उनके ?
12. महान संत पार्श्व का धर्म जो चार महाव्रतों को मानता है अथवा वर्द्धमान द्वारा बतलाया गया धर्म जो पाँच महाव्रतों को आवश्यक बतलाता है ?
13. धर्म जो मुनि के द्वारा वस्त्र धारण को मना करता है अथवा वह धर्म जो एक अधोवस्त्र और एक ऊर्ध्व वस्त्र की अनुमति देता है ? दोनों का एक ही उद्देश्य है फिर यह भेद क्यों कर ?
14. अपने शिष्यों के विचार जानकर केशी और गौतम दोनों ने एक दूसरे से मिलने का विचार किया।
15. गौतम, यह जानकर कि क्या उचित है तथा पुराने सम्प्रदाय कोआदर देते हुए, अपने शिष्यों की भीड़ के साथ तिन्दुका उद्यान गये।

उत्तराध्ययन सूत्र तब लम्बे परन्तु मित्रवत् विचार-विमर्श जो केशी और गौतम के बीच हुआ, का उल्लेख करता है। अन्त में गौतम के तर्कों की विजय हुई और केशी ने अपने शिष्यों सहित महावीर के उपदेशों को मान लिया। इस प्रकार जैन धर्म का पुरातन अंश, महावीर के नये अंश में मिल गया।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग 30, बतलाता है कि किस प्रकार गौतम ने पार्श्व के दूसरे शिष्य उदक को महावीर के धर्म में दीक्षित किया।

40. तब आदरणीय गौतम पेढ़ाल के पुत्र उदक के साथ आदरणीय तपस्वी महावीर के पास गये। तब पेढ़ाल के पुत्र उदक ने आदरणीय तपस्वी महावीर की तीन बार बायें से दायीं ओर प्रदक्षिणा की और तब उनकी प्रशंसा और पूजा करने के बाद कहा "परमपूज्य प्रभु! मैं 4 महाव्रतों और प्रतिक्रमण के धर्म से आपकी उपस्थिति में आपके अनुयायियों में सम्मिलित होना चाहता हूँ। हे देवानुप्रिय, आप मेरी प्रार्थना अस्वीकार नहीं करेंगे।"

इस प्रकार यद्यपि जैन धर्म ग्रन्थ स्पष्टतया निगंठ शब्द का प्रयोग नहीं करते, पार्श्व के अनुयायी— निगंठ धर्म संघ के पुराने अंश प्रतीत होते हैं।

जेकोबी के अनुसार, बौद्ध ने जिनका उल्लेख किया है वे पार्श्व के अनुयायी ही मूल निगंठ हैं न कि महावीर के। उसका तर्क निम्नानुसार है—

"मज्झिम निकाय 36 (पाली ग्रन्थ) में एक निगंठ पुत्र शच्छक, अचेलकों के आचरण के सन्दर्भ में शब्द 'कायाभावना' (शारीरिक शुद्धता) का तात्पर्य बतलाता है। ये अचेलक पूर्णतया नग्न रहते थे (स्बासो अपतिच्छन्ना) जबकि निगंठ किसी न किसी वस्त्र का प्रयोग करते थे। अचेलकों की बहुत सी प्रथायें जैनियों से मिलती-जुलती थीं। यद्यपि शच्छक निगंठ का पुत्र था फिर भी वह निगंठ को शारीरिक शुद्धता का प्रमाण नही बतलाता और इसलिये उसे उनकी धार्मिक प्रथाओं की पूर्ण जानकारी होगी। यह आश्चर्यजनक तथ्य आसानी से तभी समझा जा सकता है जबकि यह मान लिया जाये कि जिन मूल निगंठों का बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ वर्णन करते हैं — वे महावीर के कठिन नियमों का पालन करने वाले अनुयायी न होकर पार्श्व के अनुयायी थे जिन्होंने एक विरोधी संगठन बनाने के बदले, मूल संघ में रहते हुए, अपनी विशेष मान्यताएँ बनाये रखीं।"

जेकोबी का यह सिद्धान्त ज्यादा मानने योग्य नहीं प्रतीत होता। यदि उसके अनुसार महावीर निगंठ नहीं थे तो उनके ग्रन्थ क्यों उन्हें मृत्युपर्यन्त "निगंठ नायपुत्त" के नाम से बुलाते रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक बौद्धों का प्रश्न है, वे पार्श्व और महावीर दोनों के अनुयायियों को "निगंठ" कहकर बुलाते रहे हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुद्ध के समय में मगध में एक धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित था जिसे बौद्ध 'निगंठ' कहते थे। पुराने पंथ के संत— चार महाव्रतों का पालने करते थे और वस्त्र पहनते थे। महावीर ने दो परिवर्तन कर धर्म में सुधार किया। उन्होंने पाँचवा महाव्रत और जोड़ा और साधुओं द्वारा वस्त्रों के प्रयोग पर रोक लगा दी। पुराने पंथ के सभी सदस्यों ने इन सुधारों को मान लिया और फिर जैनियों का केवल मात्र एक ही संगठन रह गया था।

अध्याय -2

पौराणिक इतिहास

जैन दृष्टिकोण में इस विश्व का न तो आदि है और न अन्त है। विश्व और जैन धर्म दोनों अनादि हैं। जैन, समय को 12 कीलों वाले चक्र के समान समझते हैं। यह चक्र समय के प्रारम्भ से घूमता रहता है और सदा घूमता रहेगा। किसी एक समय में आधार चक्र नीचे जाता है। उतरता हुआ आधा चक्र "अवसर्पिणी" कहलाता है जबकि आधा चढ़ता हुआ चक्र "उत्सर्पिणी" कहलाता है। हम समय चक्र के उतरने वाले आधे हिस्से में रह रहे हैं जो "अवसर्पिणी" कहलाता है जबकि मनुष्य जीवन और उसका व्यवहार उत्तरोत्तर खराब होता जाता है। चक्र के ये आधे हिस्से "आरा" (युगों) में विभक्त हैं।

अवसर्पिणी के निम्न आरा है :

युग का नाम	अवधि
1. सुषम सुषमा	चार करोड़, करोड़ सागरोपम वर्ष
2. सुषमा	तीन करोड़, करोड़ सागरोपम वर्ष
3. सुषमा दुषमा	दो करोड़, करोड़ सागरोपम वर्ष
4. दुषमा सुषया	एक करोड़ सागरोपम वर्ष में 42,000 साधारण वर्ष कम
5. दुषमा	42,000 साधारण वर्ष 21,000
6. दुषमा दुषमा	21,000 साधारण वर्ष

सागरोपम अर्थात् समुद्र के बराबर—इतनी अधिक संख्या जिनकी शब्दों में अभिव्यक्ति न की जा सके।

ये ही "युग" उत्सर्पिणी में भी होते है परन्तु विपरीत क्रमबद्धता (Reverse Order) में।

सुषम सुषमा युग जो कि प्रथम युग था — में मनुष्य तीन पल्य (या पल्योपम) तक जीवित रहता था। यह समय इतना अधिक लम्बा था कि वर्षों की निश्चित संख्या में गिनती सम्भव नहीं (एक करोड़ करोड़ पल्य मिलकर एक सागरोपम वर्ष बनाते हैं) । प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का निर्वाण तीसरे आरे की समाप्ति में 3 वर्ष 8.5 माह

पूर्व हुआ था। अन्य 23 तीर्थंकर चौथे आरे में उत्पन्न हुए। महावीर का निर्वाण पाँचवें आरे के प्रारम्भ में 3 वर्ष 8.5 माह पूर्व हुआ था - जो ईसा से 527 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार हम 5वें आरे में रह रहे हैं जो दुषमा आरा है।

जैनों का पौराणिक इतिहास तीसरे आरे के अन्त से प्रारम्भ होता है जिसे सुषम दुषमा आरा कहते हैं। इस अवधि में 63 पोराणिक जैन महामानवों में से प्रधान 'ऋषभनाथ' उत्पन्न हुए। अन्य 62 महामानव चौथे आरे में हुए जो "दुषमा-सुषमा" आरा कहलाता है। श्वेताम्बर इन महामानवों को "शलाका पुरुष" कहते हैं जबकि दिगम्बर उन्हें "लक्षण पुरुष" कहते हैं।महावीर इन 63 महामानवों में अन्तिम थे।

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों — दोनों ने कई ग्रन्थ इन 63 महामानवों के जीवन के बारे में लिखे हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ हेमचन्द्र द्वारा रचित "त्रिशष्टि-शलाका पुरुष चरित्र" है। साधारणतया, दोनों शाखाओं द्वारा लिखी गई इनकी जीवनियों में विशेष अन्तर नहीं है। वास्तव में दो तीर्थंकरों, मल्ली एवं महावीर के विषय में ही ध्यान देने योग्य अन्तर है। अन्य सभी मामलों में दोनों शाखाओं में अपने धर्म की पौराणिक गाथाओं में समानता है।

63 महामानवों में निम्न थे :

श्वेताम्बर नाम	दिगम्बर नाम	
तीर्थंकर	तीर्थंकर -	24
चक्रवर्ती	चक्रवर्ती -	12
बलदेव	बलदेव -	9
वासुदेव	नारायण -	9
प्रति वासुदेव	प्रति नारायण -	9
		63

इन 63 महामानवों के अतिरिक्त कुछ कुलकर (विधायक) भी हैं। ये सभी तृतीय आरे में थे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ, कुलकरों में अन्तिम थे। कुलकर वे व्यक्ति थे जिन्होंने विश्व में प्रथम बार दण्ड का प्रावधान किया। दण्ड में प्रताड़ना, चेतावनी तथा धिक्कार के अलावा और कुछ नहीं था जो क्रमशः हक्कारा, मक्कारा और धिक्कारा कहलाते थे। हिन्दुओं के मनु भी कुलकरों की तरह ही विधायक थे।

बलदेवों और वासुदेवों में सबसे मजेदार बलराम और कृष्ण हैं (कृष्ण को प्राकृत भाषा में कान्हा कहते हैं)। बाईसवें तीर्थंकर नेमी के समय में ये भी थे। वास्तव में कृष्ण नेमी के चचेरे भाई थे। यहाँ हमें जैन महाभारत की जानकारी मिलती है। इसमें कौरवों, पाण्डवों तथा कृष्ण और बलराम के वंशजों की कहानी है। कौरव और पाण्डव सभी जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। अन्त में पाण्डव भी नेमी की तरह साधु हो जाते हैं और

निर्वाण प्राप्त करते हैं। एक मजेदार बात यह है कि इसमें प्रमुख युद्ध हिन्दू महाभारत की तरह नहीं है। वासुदेव कृष्ण प्रतिवासुदेव जरासन्ध से युद्ध करते हैं और उसे मार डालते हैं। जैन संस्करण में यही प्रमुख युद्ध है। कृष्ण और जरासन्ध के बीच के इस युद्ध में पाण्डव कृष्ण का पक्ष लेते हैं और कौरवों को, जो कि जरासन्ध का पक्ष लेते हैं, मार डालते हैं। वस्तुतः जैन संस्करण की मुख्य कहानी कृष्ण की जीवनी है और यह करीब-करीब वैसी ही है जैसी कि हिन्दुओं के भागवत पुराण में दी गई है। इसके अलावा जैन शास्त्र "अन्तकृद्धशा एवं ज्ञाताधर्म कथा" में केवल कृष्ण ही ऐसे वासुदेव हैं जो कोई भूमिका अदा कर रहे हैं।

रामायण का जैन संस्करण "पद्मचरित्र" या "पद्मपुराण" में दिया गया है। वास्तव में 'पद्म' राम का जैन नाम है और जैन संस्करण की उनकी कहानी वाल्मिकी रामायण के कथानक से कई मामलों में भिन्न है।

हेमचन्द्र अपने "त्रिशाष्टि शलाका पुरुष चरित्र" में राम की पौराणिक कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। उनके अनुसार साकेत के राजा दशरथ की चार रानियाँ थीं।

अपराजिता, सुमित्रा, सुप्रभा एवं केकयी। इन चार रानियों के चार पुत्र थे। अपराजिता का पुत्र "पदम" था जो रामके नाम से भी जाना जाता है। सुमित्रा का पुत्र नारायण था जो एक और नाम लक्ष्मण से जाना जाता है। केकयी का पुत्र भरत था और सुप्रभा का शत्रुघ्न।

जनक की पुत्री सीता थी। उसका जुड़वाँ भाई भामंडल था जिसका शैशवावस्था में ही अपहरण हो गया था। एक बार आततायियों ने जनक पर आक्रमण किया। तब राम को उनकी मदद के लिये भेजा गया। राम ने शत्रुओं के आक्रमण को आसानी से विफल कर दिया। जनक ने प्रसन्न होकर सीता का विवाह राम से करने की इच्छा प्रकट की।

दशरथ ने कैकयी से एक स्वयंवर समारोह में विवाह किया था जहाँ कैकयी ने अनेक उपस्थित राजाओं में से दशरथ का पति रूप में चुनाव किया। केकयी द्वारा अस्वीकारे राजाओं ने दशरथ पर आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप जो युद्ध हुआ उसमें कैकयी दशरथ की सारथी बनी। उसने अपना कार्य इतनी कुशलता से किया कि दशरथ ने उसे मन माँगा वरदान देने की प्रतिज्ञा की। कैकयी ने उत्तर दिया कि वह उचित समय पर अपना वरदान माँगेगी।

जब दशरथ वृद्ध हो गये तब उन्होंने राजपाट छोड़कर साधु होना चाहा। यह सुनकर कैकयी ने वरदान माँगा कि उसके पुत्र भरत को दशरथ का उत्तराधिकारी बनाकर राजपाट सौंपा जाये। राम ने इस प्रस्ताव को आसानी से स्वीकार कर लिया और यह कहा कि यदि वे राजधानी में बने रहे तो भरत राजगद्दी को स्वीकार नहीं करेगा। इसलिये उन्होंने सोचा कि राजधानी छोड़कर वनवास करना चाहिये। सीता और लक्ष्मण उनके

साथ गए। बाकी की कथा "वाल्मीकी रामायण" से मिलती जुलती है। परन्तु इन दोनों में एक मुख्य फर्क है, वह यह है कि लक्ष्मण रावण का वध करता है न कि राम। इस प्रकार जैन प्रणाली में लक्ष्मण "वासुदेव" है। राम, "बलदेव" व रावण "प्रतिवासुदेव" है।

इसके अलावा एक और जैन रामायण है जो कि सम्भवतः इस कथा का पुराना संस्करण है। यह संस्करण "संघदास" की वासुक-हिण्डी और गुणभद्राचार्य के "उत्तरपुराण" में दिया हुआ है। यह संस्करण लोकप्रिय नहीं है और श्वेताम्बरों को तो इसके बारे में बिल्कुल ज्ञान नहीं है। संक्षिप्त में कहानी इस प्रकार है- दशरथ वाराणसी का राजा था। उसकी रानी सुबाला का पुत्र राम था और कैकयी का पुत्र लक्ष्मण था। रावण की पत्नी मन्दोदरी ने सीता को जन्म दिया परन्तु रावण ने उसे एक अनुचर के द्वारा मिथिला भेजकर जीवित, भूमि में गड़वा दिया था क्योंकि एक भविष्यवाणी के अनुसार वे अपने पिता की मृत्यु का कारण बनने वाली थीं। जनक जब एक खेत जोत रहे थे तब अनायास ही सीता उन्हें मिल गई जिसको उन्होंने अपनी पुत्री की तरह पालपोस कर बड़ा किया। सीता के बड़े होने पर जनक ने यज्ञ आयोजित किया जहाँ राम और लक्ष्मण को भी इसमें आमंत्रित किया। राम के व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित होकर जनक ने सीता का उनसे विवाह कर दिया। रावण इस यज्ञ में आमंत्रित नहीं था परन्तु यह सुनकर कि सीता अत्यन्त रूपवती है, रावण ने उसका हरण करने का निश्चय किया। रामायण के इस संस्करण में राम के वनवास का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वास्तव में रावण वाराणसी के पास चित्रकूट से सीता का हरण करता है। राम रावण का लंका में वध कर सीता को पुनः प्राप्त करते हैं। इसके पश्चात् राम व लक्ष्मण घर लौटकर अपने राज्य का कार्यभार सम्भालते हैं।

सभी चक्रवर्तियों की जीवनी मिलती-जुलती है। उनका जीवन चौदह राज्य रत्नों को प्राप्त करने में बीतता है। लम्बे शासन काल के पश्चात् वे शुद्धिकरण की क्रिया, जिसे "अपूर्व-करण" कहते हैं, करके "केवल ज्ञान" प्राप्त करते हैं और निर्वाण में कदम रखते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए।

हिन्दू "विष्णु पुराण" और "भागवत पुराण" में भी ऋषभ का नाम आता है। ऐसा कहा जाता है कि सम्राट ऋषभ अपना साम्राज्य पुत्र भरत को सौंपकर वन में चले गये। वहाँ उन्होंने कठोर तपस्या की और मृत्यु को प्राप्त हुए। देहान्त के समय वे नग्नावस्था में थे (इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पुराण की इस कथा की उत्पत्ति जैन स्रोतों से हुई होगी) । जबसे ऋषभ ने अपना साम्राज्य भरत को दिया तब से यह देश "भारतवर्ष" कहलाने लगा। इससे पूर्व यह देश हिमवर्ष कहलाता था। ऋषभ देव के अलावा और किसी भी तीर्थंकर का वर्णन हिन्दू धर्मग्रन्थों में नहीं है।

चौबीस तीर्थंकरों के जीवन का विस्तृत विवरण मिलता है चरित्रों एवं पुराणों में, जो ईसा बाद प्रथम दशाब्दी में लिखे गये। इनसे पूर्व की पुस्तकों जैसे श्वेताम्बरों

के "कल्पसूत्र" में इनमें अधिकांश के बारे में बहुत कम विवरण है। वस्तुतः कल्पसूत्र केवल पार्श्व, अरिष्टनेमी और ऋषभ देव के जीवन की कुछ घटनायें एक ही जैसे तरीके से देता है। इसमें महावीर के जीवन का विस्तृत विवरण है परन्तु बाकी बीस तीर्थंकरों के बारे में केवल यही बतलाया है कि वे कब हुए।

तीर्थंकरों के जीवन के बारे में कुछ एकरूपता है। सभी क्षत्रिय माताओं से उत्पन्न हुए थे और संसार त्यागने से पूर्व उनका जीवन राजसी था। करीब-करीब सभी ने बिहार के सम्मेत शिखर (पार्श्वनाथ की पहाड़ियाँ) पर निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाण के स्थान के बारे में केवल चार ही अपवाद थे। निम्न चार तीर्थंकरों के निर्वाण के निम्न स्थान हैं :

1) ऋषभ का कैलाश पर, 13) वासुपूज्य का चम्पा में 22) अरिष्टनेमि का गिरनार पर 24) महावीर का पावा में।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का देहान्त महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुआ था जबकि पार्श्व के पूर्ववर्ती अरिष्टनेमि का देहावसान महावीर के निर्वाण से 84,000 वर्ष पूर्व हुआ था। नमिनाथ अरिष्टनेमि से 5 लाख वर्ष पूर्व और मुनिसुव्रत नमिनाथ से एक लाख वर्ष पूर्व मोक्ष गये थे। यह अवधि बढ़ती ही जाती है और अन्तर इतना अधिक हो जाता है कि गणना कठिन हो जाती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पार्श्व और महावीर को छोड़कर बाकी सभी तीर्थंकर पौराणिक व्यक्तित्व हैं। इसलिये हमें विभिन्न चरित्रों और पुराणों में दिये गये उनके जीवन के बारे में विवेचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि जैनों का अपना इतिहास का दर्शन है (समय चक्र का सिद्धान्त) तथा यह अन्य किसी भी धर्म के लोगों के दर्शन से भिन्न है। पिछले पन्द्रह सौ वर्षों में, जैनों ने महावीर तक ही अपना इतिहास लिखने में रुचि दिखलाई है। वस्तुतः दिगम्बरों ने तो महावीर के बाद के इतिहास की उपेक्षा की है। जैन धर्म में दिगम्बर शाखा का महावीर के बाद का कोई इतिहास नहीं है - सिवाय कुछ पट्टावलियों के, जिनमें उनके एक के बाद दूसरे प्राचार्यों के नाम दिये गये हैं। इस इतिहास के जैन स्रोतों के लिये हमें केवल मात्र श्वेताम्बरों के ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

अध्याय - 3

पार्श्व की जीवनी

पार्श्व जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर थे। उनकी ऐतिहासिकता इस बात से प्रमाणित है कि महावीर के समय में कई लोग उनके उपदेशों के मानने वाले थे। वास्तव में महावीर के माता-पिता भी पार्श्व के अनुयायी थे। महावीर के समय में इस पंथ का नेता केशी था जिसे बौद्ध निगंठ कहते थे।

जैन शास्त्रों की पुस्तकों में पार्श्व के जीवन के बारे में कोई विशेष उल्लेख नहीं है। भद्रबाहु के "कल्प सूत्र" में उनके जीवन का संक्षिप्त सा विवरण मिलता है। कल्पसूत्र सम्भवतः चौथी या पाँचवीं शती में लिखा गया था। इस विवरण के अन्तिम पैरा में यह लिखा गया है कि अर्हत पार्श्व के निर्वाण से 12 सदियाँ पूर्ण हो चुकी हैं और तेरहवीं सदी का यह 30वाँ वर्ष है। उसी प्रकार कल्पसूत्र में महावीर के बारे में लिखा गया है कि उनके निर्वाण को 9 सदियाँ पूर्ण हो चुकी हैं तथा दसवीं सदी का यह अस्सीवआँ वर्ष है। इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पार्श्व महावीर से 250 वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे तथा वे ईसा पूर्व 9वीं सदी में हुए थे।

इसके अलावा पार्श्व के जीवन में बाकी सभी घटनाएँ उसी प्रकार उल्लेखित हैं जैसी की अन्य सभी तीर्थंकरों की है। उदाहरणार्थ यह बतलाया गया है कि पार्श्व के जीवन की पाँच सबसे महत्त्वपूर्ण घटनायें तब हुई जबकि चन्द्रमा विशाखा नक्षत्र में था। ये पाँच घटनायें हैं— उनका माँ की गर्भ में आना, जन्म, संसार-त्याग, केवल ज्ञान और मृत्यु।

कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्व वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनकी माँ का नाम वामा था। तीस वर्ष तक उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन किया। तब उन्होंने संसार त्याग दिया और 83 दिनों तक कठोर साधना की। 84वें दिन उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया और वे केवली हो गये। उसके बाद उन्होंने काफी अनुयायी बनाये जिसमें श्रमण भी थे और गृहस्थ भी, स्त्रियाँ भी थीं और पुरुष भी। सौ वर्ष की आयु पूर्ण करने पर सम्मेत शिखर (प.ार्श्वनाथ की पहाड़ियाँ—बिहार) पर उनका निर्वाण हो गया।

अध्याय - 4

वर्धमान महावीर की जीवनी

जैन धर्म के इतिहास में जैनियों के 24वें एवं अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। उन्होंने ही जैन धर्म को इस प्रकार संगठित किया और उसकी इतनी पक्की नींव डाली की 25 सदियों के पश्चात् भी यह अपरिवर्तित रूप में विद्यमान है। जैसा कि पूर्व में उल्लेखित किया जा चुका है बौद्ध ग्रन्थों में उनका नाम निगंठ नायपुत्त बतलाया गया है। चूँकि ये स्रोत स्वतंत्र हैं, ये महावीर की ऐतिहासिकता प्रमाणित करते हैं। बौद्ध ग्रन्थ महावीर के जीवन का कोई विवरण नहीं देते सिवाय इसके कि वे निगंठ गुट के नेता थे। बौद्ध उनकी मृत्यु के समय का भी उल्लेख करते हैं।

जैन स्रोत उनके उपदेशक जीवन के बारे में भी कोई विवरण नहीं देते। उनके जन्म से पूर्व की घटनायें जैसे उनके गर्भ में आने पर उनकी माता का आने वाले सपनों के बारे में विशद विवरण है पर उनके पैदा होने के बाद का विवरण बहुत कम है। 30 वर्ष की आयु में वे साधु हो गये और 12 वर्षों तक भ्रमण करते रहे। इस अवधि की समाप्ति पर वे सर्वज्ञ बन गये और 42 वर्ष में उपदेशक बन गये। इन 12 वर्षों के भ्रमण के जीवन के बारे में जैन स्रोतों में कुछ विवरण उपलब्ध है परन्तु उनके उपदेशक जीवन के तीस वर्ष अर्थात् 72 वर्ष की आयु में निर्वाण तक के बारे में ये स्रोत मौन हैं।

श्वेताम्बर स्रोतों के अनुसार महावीर का जीवन निम्न प्रकार है :—

महावीर ज्ञात्री कुल के क्षत्रिय थे व पटना के निकट वैशाली नगर के उपग्राम कुंड के निवासी थे। वे सिद्धार्थ एवं त्रिशला (जो एक उच्च कुल से सम्बन्धित स्त्री थी)

के दूसरे पुत्र थे। वास्तव में त्रिशला वैशाली के राजा चेतक की बहन थी। चेतक की पुत्री चेल्लना मगध के सम्राट श्रेणिक बिम्बिसार को ब्याही थी। महावीर की वंशावली उपरोक्त प्रकार से बनाई जा सकती है।

श्वेताम्बरों का कहना है कि इस तीर्थंकर की आत्मा पहले ब्राह्मण देवानन्दा के गर्भ में आयी थी। उसके पश्चात् शुक्र (इन्द्र) के आदेश से उसके भ्रूण को हटाकर त्रिशला के गर्भ में रखा गया जिसने महावीर को जन्म दिया। लोगों का यह प्रश्न करना उचित ही है कि इस भ्रूण के स्थानान्तरण की घटना की जानकारी किस प्रकार मिली। श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर ने स्वयं अपने शिष्यों को यह बात बतलाई थी जब देवानन्दा उन्हें देखने आई थी। भगवती सूत्र में इस प्रकार का वर्णन आता है:

ब्राह्मण ऋषभ दत्त व उसकी पत्नी देवानंदा महावीर के दर्शनार्थ गये तब ब्राह्मण स्त्री देवानंदा की छाती से दूध बहने लगा, उसकी आँखों में आँसू आ गये व चूड़ियों में उसके हाथ फूल गये। उसकी चोली खिंचने लगी। उसके शरीर की रोमावली के रोम खड़े हो गये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वर्षा के बाद कदम्ब का वृक्ष खिल उठता है। इस स्थिति में वह पवित्र साधु महावीर की ओर एकटक देखने लगी। तब पूज्य गौतम ने पवित्र आत्मा महावीर से कहा 'स्वामी यह ब्राह्मण स्त्री इस प्रकार टकटकी लगाकर क्यों देख रही है। महावीर ने उत्तर दिया, 'सुनो गौतम ! यह ब्राह्मण स्त्री देवानंदा मेरी माँ है, मैं इसका पुत्र हूँ। इसी कारण से यह स्त्री वात्सल्य भाव से मुझे देख रही है क्योंकि मेरी प्रथम उत्पत्ति उससे ही हुई थी।"

महावीर के जीवन की पाँचों घटनायें, गर्भाधान, जन्म, संन्यास, केवल ज्ञान और निर्वाण तब हुए जबकि चन्द्रमा उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में था। उसके माता पिता जो कि जैन थे (पार्श्व के उपासक) ने उसका नाम वर्धमान दिया (वीर या महावीर विशेषण हैं जो नाम की तरह प्रयोग में आते हैं)। उन्होंने यशोदा से विवाह किया और उससे उनकी एक पुत्री अनोज्जा (प्रियदर्शना) हुई।जब वे 30 वर्ष के थे तब उनके माता पिता स्वर्ग सिधार गये। उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन उनके पिता के उत्तराधिकारी बने। उनके भाई एवं बड़ों की अनुमति से उन्होंने अपने संकल्प के अनुसार जैन विधि से दीक्षा ली। 12 वर्ष तक उन्होंने घोर तपस्या की। महावीर सारे कष्टों को झेलते हुए तपस्वी भिक्षु की तरह घूमते रहे यहाँ तक कि पहले 13 महीनों के बाद उन्होंने अपने वस्त्र भी उतार फेंके। इस यात्रा एवं ध्यान की अवधि के पश्चात् उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया जो कि बौद्धों में 'बोधि' प्राप्त करने के सदृश है।

उनके केवल ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व के 12 वर्षों में जबकि वे पूर्वी भारत में इधर- उधर भ्रमण कर रहे थे उनके कार्यक्रम के बारे में कुछ विवरण उपलब्ध है। महावीर के जीवन के ये 12 वर्ष बड़ी कठिनाइयों में गुजरे। कभी गाँव वाले उन्हें चोर समझ लिया करते थे और कभी उन्हें व उनके साथी गोशाल पर जो कि 6-7 वर्ष तक उनके साथ रहा, पर जासूस होने का संदेह किया करते थे। इन 12 वर्षों के दौरान की गई

यात्राओं का वर्णन जिनदास के आवश्यक सूत्र की "चूर्णि" में दिया गया है। शुब्रिंग के अनुसार यह चूर्णि 7वीं सदी से पूर्व की नहीं है परन्तु इसे साधारणतया विश्वसनीय माना जा सकता है।

संसार-त्याग के कुछ दिनों बाद ही महावीर कुम्मरा गाँव में गये। वहाँ जाकर वे कुछ समय तक ध्यानावस्थित हो गये। एक ग्वाले ने उन्हें चोर समझकर मारना चाहा इस कारण महावीर को गाँव छोड़ना पड़ा। महावीर ने संसार-त्याग के बाद का पहिला चौमासा (वर्षा ऋतु) अत्थियगाम में किया।

दूसरे वर्ष में जब महावीर सुवन्न कुल नदी पार कर रहे थे, तब उनका वस्त्र नदी के तीर पर काँटों में फँस गया। इसके पश्चात् वे नग्न ही रहे। महावीर ने दूसरा चौमासा राजगृह के पास नालन्दा में एक जुलाहे के छप्पर के नीचे बिताया। मक्खलि गोशाल उनको यहीं मिला और उनका साथी बन गया। दोनों मिलकर यहाँ से कोल्लाग गये। महावीर और गोशाल ने तीसरा चौमासा चंपा में बिताया।

जब महावीर और गोशाल कोरगा— सन्निवेश होकर यात्रा कर रहे थे तब उन्हें शत्रु का गुप्तचर समझकर कुए में डाल दिया गया। किसी प्रकार दो स्त्रियों ने उन्हें पार्श्व के अनुयायी की तरह पहिचान लिया और छुड़वाया। उनका चौथा चौमासा पित्थिचंपा में हुआ।

साधु जीवन का अगला वर्ष महावीर और गोशाल के लिये बड़ा कठिन था। गोशाल की आदत लोगों का मजाक उड़ाने की थी जिससे उसकी कई बार पिटाई हो जाती थी। वे इस वर्ष लाढा (दक्षिणी पश्चिमी बंगाल) भी गये जहाँ लोगों ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया। उनका पाँचवां चौमासा भद्दिता में हुआ। इस वर्ष की उनकी यात्रा में कुविय सन्निवेश नामक स्थान पर इन दोनों को गुप्तचर समझ लिया गया। बाद में विजया और प्रगल्भा नाम की दो बहिनों के बीच- बचाव से उनकी मुक्ति हो सकी। इस समय गोशाल ने महावीर को यह कहकर साथ जाने से मना कर दिया कि उनके साथ उसे हमेशा अपमान सहना पड़ता है इसलिये वह अकेला ही जाना पसन्द करेगा। कुछ समय के लिये दोनों अलग हो गये — परन्तु छः महीने बाद ही गोशाल पुनः महावीर के पास आ गया जबकि वे सलसियागाम में थे। उनका छठा चतुर्मास भदिद्त्ता में हुआ।

उन्होंने अपना सातवां चातुर्मास आलमिया में बिताया। अगले वर्ष भी लोगों ने गोशाल की, उसके कटाक्षपूर्ण व्यवहार के लिये पिटाई की। एक बार जबकि ये दोनों लोहागल - जो कि राजा जियासत्रु की राजधानी थी - में थे तब राजा के अनुचरों ने उन्हें शत्रु के गुप्तचर समझकर - बाँध दिया। बाद में उप्पल ने उनको छुड़ाया जो वहाँ अत्थियगाम से आया था। आठवाँ चातुर्मास महावीर एवं गोशाल ने रायगीहा (राजगृह) में बिताया।

राजगृह से महावीर और गोशाल लाढ़ गये और उन्होंने वज्जाभूमि तथा सुब्भाभूमि की यात्रा की जहाँ उन्हें कई प्रकार के कष्ट भोगने पड़े। इनका विशद वर्णन आचारंग सूत्र में है। उसका एक अंश निम्नानुसार है :

"उन्होंने वज्जाभूमि और सुब्भाभूमि के मार्गविहीन लाढ़ प्रदेश की यात्रा की — वहाँ उन्हें कष्टदायक बिस्तर और आसन मिले। लाढ़ में उन पर कई विपत्तियाँ आईं। कई स्थानीय लोगों ने उन पर हमले किये। इस कठिन प्रदेश के विश्वसनीय भू- भाग में भी कुत्ते उनके पीछे भागे और उन्हें काट खाया। बहुत कम लोगों ने कुत्तों को काटने तथा लोगों को आक्रमण करने से रोका। साधुओं की पिटाई करते वक्त लोग छू-छू कर कुत्तों को काटने के लिये पीछे लगा देते। ऐसे थे वहाँ के लोग ! कई अन्य तपस्वी, वज्जाभूमि में — जो मोटे अनाज का भोजन करते थे और हाथ में बड़ा सा डंडा (कुत्तों को दूर रखने के लिये) रखते थे — रहते थे। इसके बावजूद भी कुत्ते उन्हें काट खाते थे। लाढ़ में यात्रा करना बड़ा कठिन है। उन्होंने नौवाँ चातुर्मास यही लाढ़ में निकाला।

दसवें वर्ष में ये जब दोनों सिद्धार्थपुर में थे, गोशाल ने महावीर से सभी सम्बन्ध तोड़ लिये और वह सावत्थी चला गया। तब महावीर वर्ष के अन्त तक अकेले ही यात्रा करते रहे और दसवाँ चातुर्मास उन्होंने सावत्थी में बिताया।

महावीर और गोशाल अलग-अलग क्यों हुए उसका ठीक-ठीक कारण ज्ञात नहीं हो सका है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि गोशाल ब्रह्मचर्य के बारे में ज्यादा सावधान नहीं था और यह महावीर को पसन्द नहीं था। सूत्रकृतांग में गोशाल का एक वक्तव्य है जो उसने महावीर के शिष्य आद्रक को दिया था। "जिस प्रकार तुम्हारे नियम के अनुसार महावीर का शिष्यों से घिरे रहना कोई पाप नहीं है उसी प्रकार हमारे नियमों के अनुसार यदि कोई साधु अकेला रहता है, यदि ठंडा पानी उपयोग में लेता है, बीज खाता है, उसके लिये तैयार किये गये पदार्थ लेता है अथवा औरतों से संभोग करता है तो कोई पाप नहीं करता।"

गोशाल ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष श्रावस्ती की एक कुम्हारिन हलाहल के घर में बिताये।

सम्भवतः इसी प्रकार का व्यवहार देखकर महावीर ने साधुता के लिये आवश्यक शर्तों में — ब्रह्मचर्य के व्रत को सम्मिलित करना उचित समझा होगा तथा पार्श्व के चार महाव्रतों की सूची में इसे भी जोड़ा होगा।

महावीर की यात्रा का ग्यारहवाँ वर्ष बहुत कठिन वर्षों में से था। तोसाली में उन्हें डाकू समझकर बेरहमी से पीटा गया। तब वे मोसाली गये जहाँ उन्हें बन्दी बना लिया गया परन्तु राज दरबार ने उन्हें मुक्त कर दिया। जब वे वापस तोसाली गये तब लोगों ने उन्हें फाँसी देने की चेष्टा की परन्तु एक तोसाली क्षत्रिय ने उन्हें बचा लिया।

सारा वर्ष घोर उत्पीड़न, यातना और अपमान भरा था। उनका ग्यारहवाँ चातुर्मास वैशाली में हुआ।

अगला वर्ष तुलनात्मक तौर पर शान्ति का था। महावीर की बारहवीं वर्षा ऋतु चंपा में बीती।

चंपा से महावीर जंभियगाम गये और वहां से मेढियागाम। फिर वे छम्माणिगाम गये — जहां एक ग्वाले ने उनके कान में कीलें ठोक दीं — ऐसा बतलाया जाता है। महावीर इसी स्थिति में मज्जिम पावा आये — जहाँ उनके कान से कीलों को निकाल दिया गया। फिर उन्होंने जंभियगाम की यात्रा की जहां ऋजूबालूका नदी के उत्तरी किनारे पर, गृहस्थ श्यामक के खेत में एक शाल वृक्ष के नीचे - जो कि वेयावत मंदिर के उत्तर पूर्व में है, दीक्षा लेने के 12 वर्ष 6 माह और 15 दिन बाद वैशाख शुक्ला दसमीं को उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद, इसी ऋजुबालुका नदी के किनारे — एक समवशरण (धर्म सभा) का आयोजन किया गया परन्तु ऐसा कहा जाता है कि महावीर का प्रथम उपदेश ज्यादा सफल नहीं रहा। फिर बारह योजन चलने के बाद महावीर मज्जिम पावा लौटे जहाँ महासेना के उद्यान में उन्होंने दूसरा समवशरण किया। यहाँ कई धार्मिक और दार्शनिक बिन्दुओं पर काफी लम्बी चर्चा के बाद, महावीर ने 11 ब्राह्मण विद्वानों को अपना शिष्य बनाया।

ये ग्यारह ब्राह्मण बाद में महावीर के ग्यारह गणधर बने। इनमें से 9 महावीर के जीवन काल में ही निर्वाण को प्राप्त हो गये और उनमें से केलव दो इन्दाभूई गोयमा (इन्द्रभूति गौतम) और सुहम्मा (सुधर्मन) बचे। शुब्रिंग लिखता है, "इसमें बहुत कम संदेह है कि अन्य नौ गणधर काल्पनिक थे"। वास्तव में जैन शास्त्रों में इन नौ गणधरों के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

बयालीस वर्ष की उम्र में केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर करीब 30 वर्ष तक जीवित रहे। जैन नियमों में यह प्रावधान है कि गर्मी और सर्दी के आठ महीनों में एक साधु एक गाँव में एक रात और किसी कस्बे में पाँच रात से अधिक नहीं टिक सकता। वर्षा के चार महीने उन्हें एक ही स्थान पर रहना पड़ता है। कल्पसूत्र में उन स्थानों के नाम दिये हैं जहाँ महावीर ने अपने 42 चातुर्मास व्यतीत किये। वे निम्न प्रकार है :—

1. अत्थियगाम - प्रथम वर्षा ऋतु - 1
2. चम्पा और पित्थी चम्पा - 3
3. वैशाली तथा वनियागाम - 12
4. रायगीहा तथा नालन्दा - 14

5. मिथिला - 6
6. भदिद्त्ता - 2
7. अलाभिया - 1
8. पानिया भूमि-1
9. सावत्थी - 1
10. पावा ग्राम में - 1 (यह उनका अन्तिम चातुर्मास था)

राजा हत्थीबल —
के लिपिक के —
कार्यालय में) —

42

अपने तपस्वी जीवन के 42 वर्षों में अर्थात् उनके गृह त्याग से लेकर निर्वाण तक, महावीर ने जिस क्षेत्र में विचरण किया वे हैं बिहार, पश्चिमी और उत्तरी बंगाल का एक भाग और पूर्वी उत्तर प्रदेश का कुछ हिस्सा। कुछ ग्रंथों में तोशाली का उल्लेख भी आता है — जहाँ महावीर ने भ्रमण किया था। यदि यह तोशाली ओड़िसा में है तो महावीर वहाँ भी गये थे।

अधिकांश पूर्वकालिक जैन ग्रंथों ने महावीर के सर्वज्ञ होने तथा उनके उपदेशक काल के जीवन का विवरण लिखने में कोई रुचि नहीं दिखलाई फिर भी कहीं -कहीं कोई सन्दर्भ मिल जाते हैं। भगवती सूत्र एकमात्र ऐसा पूर्वकालिक ग्रन्थ है जो महावीर के केवली होने के पहिले और बाद के जीवन के बारे में तुलनात्मक रूप से ज्यादा विवरण देता है। बाद के जैन लेखकों ने इन तथ्यों तथा दूसरी उनके जीवन सम्बन्धी कहानियों के टुकड़ों को जोड़कर — एक ग्रन्थ की रचना की जो "63 महापुरुषों की जीवनी" कहलाती है। इन ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध है हेमचन्द्र रचित "त्रिशष्टि शलाका पुरुष - चरित्र"। महावीर की जीवनी इस ग्रन्थ के दशम् अध्याय में है। चूंकि हेमचन्द्र जैनों के परम विद्वानों में से एक थे, यह माना जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में केवल उन्हीं पौराणिक कथाओं को स्थान दिया होगा जो महावीर के जीवन से सम्बन्धित होगीं और, जिनको उन्होंने अत्यन्त विश्वसनीय माना होगा। महावीर के उपदेशक जीवन से लेकर जो कि उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रारम्भ किया, उनकी मृत्युपर्यन्त की जीवनी के लिये हम हेमचन्द्र के ग्रन्थ को आधार मान सकते हैं। (हेमचन्द्र को स्वयं को भी महावीर की जीवनी के बारे में सामग्री की कमी महसूस हुई होगी। इसलिये उन्होंने अपने ग्रन्थों को अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों के इतिहास से भरा है जैसे तत्कालीन राजा अथवा उनकी रानियाँ । कई बार इन कहानियों का महावीर के जीवन से सम्बन्ध ढूंढना भी कठिन हो जाता है।)

केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद महावीर ने गाँवों, खानों, शहरों आदि में भ्रमण करना प्रारम्भ कर दिया ताकि योग्य आत्माओं को मुक्त करवाने में मदद कर सकें। कई लोग उन्हें देखने आते थे। प्रथम दर्शनार्थियों में उनके वास्तविक (NATURAL) माता-पिता ऋषभदत्त और देवानन्दा भी थे। इस भेंट के समय महावीर ने देवानन्दा को अपनी माँ की तरह समझा — जिसकी कोख में वे स्वर्ग से पहिले आये थे और वहां से त्रिशला के गर्भ में जाने से पूर्व 82 दिन तक रहे थे। महावीर के भ्रमण के समय सबसे पहिले दर्शनार्थियों में जमाली भी था जो उनकी बहिन का लड़का और जवांई भी था। जमाली महावीर को उनके जन्म ग्राम क्षत्रिय-कुंडग्राम में मिला था। महावीर की पुत्री तथा जमाली की पत्नी प्रियदर्शना अपने पति के साथ पिता को मिलने आई थी। जमाली ने भगवान की उपदेशना सुनी तब अपने माता-पिता से अनुमति लेकर क्षत्रिय कुल के 500 पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। जमाली की पत्नी और भगवान महावीर की पुत्री ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली। तब भगवान अन्यत्र भ्रमण पर चल दिये और जमाली अपने साधुओं के साथ उनके पीछे हो लिया। भ्रमण करते हुए, यथा समय जमाली ने 11 अंगों पर अधिकार कर लिया और भगवान ने उसे मुनियों का प्रमुख बना दिया। उसने तप करना प्रारम्भ कर दिया, दो दिन का उपवास आदि। प्रियदर्शना चन्दना का अनुकरण करने लगी।

चन्दना चंपा के सम्राट दधिवाहन की पुत्री थी। सम्राट युद्ध में हार गये और उनकी पुत्री चन्दना को बन्दी बना दिया गया था। एक बार चन्दना ने जबकि वह भूख से मर रही थी — अपना आधा भोजन महावीर को दे दिया था। उस समय तक महावीर को केवल ज्ञान नहीं हुआ था। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि वे लम्बे समय तक उपवास करेंगे। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा चन्दना से भिक्षा लेकर पूरी की। उस समय देवताओं ने यह भविष्यवाणी की थी "इस लड़की का यह अन्तिम जन्म है क्योंकि सांसारिक सुखों से इसका मन हट गया है — तथा जब भगवान महावीर को केवल ज्ञान होगा यह उनकी प्रथम स्त्री शिष्या होगी।"

एक दिन जमाली ने भगवान के समक्ष नतमस्तक होकर कहा, "यदि आपकी अनुमति हो तो मैं और मेरा समूह स्वतंत्र भ्रमण हेतु प्रस्थान करें।" ज्ञान की दृष्टि से भगवान समझ गये थे कि अनिष्ट होने वाला है इसलिये जमाली के बार- बार कहने पर भी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। जमाली ने यह समझकर कि जिसमें मना नहीं वह स्वीकार है। वे और उसका समूह भगवान से अलग भ्रमण के लिए निकल पड़े।

इस प्रकार अपने साथियों के साथ भ्रमण करते हुए एक बार जमाली बीमार हो गया। वह सोना चाहता था इसलिये अपने शिष्यों को बिस्तर बिछाने को कहा। कुछ समय बाद शिष्यों से पूछा कि क्या बिस्तर लग गया है। वे अभी बिस्तर फैला ही रहे थे पर उत्तर दिया बिस्तर तैयार है। जब जमाली ने देखा कि बिस्तर तो अभी तक तैयार नहीं है — वह अपने अनुयायियों पर नाराज हो गया। उन्होंने उत्तर दिया कि

महावीर की शिक्षाओं के अनुसार "जो कार्य किया जा रहा है वह कर दिया गया है" अब उनकी समझ में उनकी गलती समझ में आई और सत्य उद्घाटित हुआ कि "जो किया जा रहा है वह किया गया नहीं है"। यह वह मुख्य बिन्दु था जिसने महावीर और जमाली के समूह को एक दूसरे के दूर कर दिया था। जमाली ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि उसने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उसने महावीर से कहा कि वह सर्वज्ञ हो गया है — धरती पर अर्हत बन गया है। उसकी पत्नी प्रियदर्शना भी उसकी बातों में सम्मिलित हो गई। परन्तु एक व्यक्तिगत अनुभव से उसे अपनी त्रुटि का ज्ञान हो गया। एक बार एक व्यक्ति ने जानबूझकर उसके वस्त्रों पर आग की चिंगारी छोड़ दी जिससे उसके वस्त्र जलने लगे। प्रियदर्शना ने जब देखा कि उसके वस्त्र जल रहे हैं तो कहा, "देखो धानक्य, तुम्हारी असावधानी से मेरे वस्त्र जल गये"। धानक्य ने कहा "असत्य मत बोलो। तुम्हारे सिद्धान्तों के अनुसार तो पूरा वस्त्र जलने पर ही उसे जला हुआ कहना उचित है"। महावीर का उपदेश है "जलते जाना जलना है"। प्रियदर्शना को अपनी गलती का अहसास हो गया कि वह जमाली की गलत शिक्षा का अनुसरण कर रही थी और वह अपने अनुयायियों के साथ पुनः अपने पिता के पास आ गई।

जमाली अपने गलत सिद्धान्तों पर अड़ा रहा और बिना अपने पापों को स्वीकार किये ही मर गया। जमाली के सिद्धान्त भी उसके साथ ही चले गये।

हेमचन्द्र ने जिस दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन किया है वह आजीविकों के नेता गोशाल की मृत्यु की है।

महावीर भ्रमण करते हुए एक बार श्रावस्ती आये और वहाँ एक कोष्ठक के उद्यान में ठहरे। गोशाल भी वहाँ पहिले आया हुआ था और श्रावस्ती में एक कुम्हारिन "हलाहल" की दुकान में ठहरा हुआ था। गोशाल अपने आप को सर्वज्ञ समझता था। एक बार महावीर के प्रमुख शिष्यों में से एक गौतम जो श्रावस्ती में भिक्षा माँगने हेतु आये थे — ने सुना कि गोशाल सर्वज्ञ होने की घोषणा कर रहा है। गौतम ने महावीर से पूछा कि क्या गोशाल की यह घोषणा सही है"। महावीर बोले, "मन्खा मक्खलि (गोशाल) का पुत्र अपने आपको जितेन्द्रिय समझता है यद्यपि वह ऐसा नहीं है, वह धोखे का घट है। मेरे द्वारा दीक्षित और मेरे द्वारा प्रशिक्षित, उसने मेरे बारे में ही भ्रामक प्रचार प्रारम्भ कर दिया है। गौतम वह सर्वज्ञ नहीं है। जब गोशाल ने अपने बारे में महावीर की राय सुनी तो वह बड़ा क्रोधित हुआ। जब उसने महावीर के एक दूसरे शिष्य आनन्द को देखा तो धमकी दी कि वह तेजोलेश्या से शत्रु का नाश कर सकता है। वह अपनी लेश्या से महावीर और उसके अनुयायियों को नष्ट कर देगा। जब आनन्द ने महावीर को यह बात बतलाई तो उन्होंने बतलाया कि गोशाल के पास ऐसी खतरनाक लेश्या है तो सही जिससे वह सिवाय अर्हत के किसी को भी भस्म कर सकता है। अर्हत को कुछ असुविधा अवश्य होगी। इसी कारण गोशाल को छेड़ना नहीं चाहिये।

आनन्द ने श्रावस्ती के लोगों को यह बात बतला दी। इससे गोशाल क्रोधित हो गया और महावीर को गालियाँ देने लगा। जब महावीर के दो अनुयायियों ने प्रतिवाद करने का प्रयास किया तो गोशाल ने उनको मार डाला।

महावीर ने भी गोशाल को शान्त करने की चेष्टा की परन्तु महावीर के शब्दों ने उसे और अधिक नाराज कर दिया और उसने तेजोलेश्या का प्रयोग महावीर पर ही कर दिया। "स्वामी के समक्ष बलहीन, जैसे पर्वत के सामने तूफान हो, उसने एक भक्त की तरह भगवान की परिक्रमा की। तेजोलेश्या से भगवान के शरीर को कुछ गर्मी का अनुभव हुआ। तेजोलेश्या अपराध के कारण मानो नाराज, लौटकर आई और गोशाल के शरीर में जबरन घुस गई।"

"अन्दर से जला हुआ होते हुए भी गोशाल ने भगवान महावीर को उद्दण्डतापूर्ण शब्दों में कहा, मेरी तेजोलेश्या से जलकर छः महीने के पश्चात् ही तुम्हारी भयंकर ताप से मृत्यु हो जायेगी।"

तभी भगवान ने कहा, "गोशाल तुम्हारे वचन असत्य है, क्योंकि मैं, सर्वज्ञ अभी 16 वर्ष तक और भ्रमण करूँगा। परन्तु तुम अपनी तेजोलेश्या के कारण भयंकर ताप से पीड़ित होओगे और सात दिन की समाप्ति पर मर जाओगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है"।

"दुःखी गोशाल अपनी ही तेजोलेश्या से जला हुआ ताप कम करने के लिये प्याले में डालकर मदिरा सेवन करने लगा। मदिरा में मदमस्त होकर वह गाने और नाचने लगा और कुम्हारिन हलाहल के समक्ष अजली बनाकर झुक-झुक कर नमन करने लगा। वह ऊटपटांग बकने लगा तथा यह दिन उसके उदास शिष्यों की सेवा के बीच बीता। इसी प्रकार पूरे सप्ताह यही उपक्रम चलता रहा।

सात दिनों की समाप्ति पर गोशाल प्रायश्चित करने लगा, अपनी त्रुटियों को उसने मान लिया और वह मर गया।

(गोशाल की कहानी, जो हेमचन्द्र ने सम्भवत भगवती सूत्र से ली है — उस समय गोशाल के नेतृत्व वालेआजीविक तथा महावीर के नेतृत्व वाले निगंठों के बीच चलने वाले गम्भीर विवाद का इतिहास बतलाती है। जैसा कि बाद में विवेचन किया गया है, होर्नेल ने इसमें दिगम्बर समाज की उत्पत्ति के आसार देखे।)

कुछ ही दिनों में, महावीर भी पेचिश और गोशाल की तेजोलेश्या के प्रभाव से गंभीर ताप से बहुत ही कमजोर हो गये थे परन्तु उन्होंने किसी भी दवाई का प्रयोग नहीं किया। उस समय यह अफवाह फैल गई कि गोशाल की भविष्यवाणी के अनुसार वे छः माह में ही चल बसेंगे। उनके शिष्य बहुत ही शंकित हो गये और महावीर से औषधि लेने का आग्रह करने लगे। अन्त में महावीर मान गये और कहा कि उनके

शिष्यों को वह खाना ही लाना चाहिये जो एक गृहस्थिन रेवती ने अपने घरवालों के लिये पकाया हो।

एक शिष्य सिंह रेवती के निवास पर गया और जो भी औषधि उसने दी, लेकर आ गया। तुरन्त ही देवताओं ने प्रसन्न होकर सोने की वर्षा कर दी। जो दवाई सिंह द्वारा लाई गई थी — भगवान महावीर ने उसका प्रयोग किया और उससे उन्हें तुरन्त ही स्वास्थ्य लाभ हुआ जैसे चकोर को चांद मिल गया हो।

इस घटना के बाद महावीर सोलह वर्ष और जीवित रहे। वे उत्तरी बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में अपने धर्म की नैतिक शिक्षा देते हुए भ्रमण करते रहे। सम्भवतः उन दिनों कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी।

महावीर का, केवल ज्ञान प्राप्त करने के 29.5 वर्षों बाद निर्वाण हुआ। उनका निर्वाण राजगृह के नजदीक पावा ग्राम में राजा हस्तीपाल के लिपिक के घर में हुआ था। ग्यारह गणधरों में से नौ पहिले ही मोक्ष जा चुके थे। उसके बाद केवल गौतम इन्द्रभूति और सुधर्मा ही बचे थे। अपने निर्वाण से पूर्व महावीर ने गौतम को एक दिन के लिये कहीं दूर भेज दिया था। सम्भवतः उन्हें डर था कि गौतम दुःख में विह्वल होकर ज्यादा रागरंजित हो जायेंगे। जो भी हो, महावीर के निर्वाण पर, गौतम को तुरन्त ही केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। वे बारह वर्ष तक इस स्थिति में रहे और उनकी मृत्यु पर सुधर्मा को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। महावीर के बाद जैन धर्म के प्रथम नेता सुधर्मा ही थे क्योंकि गौतम ने कभी कोई उपदेश नहीं दिया।

श्वेताम्बर महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् से 470 वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व 527 वर्ष बतलाते हैं। यही वीर संवत् का प्रारम्भिक बिन्दु है। महावीर के निर्वाण पर "ज्ञान का प्रकाश बुझने से, सारे राजाओं ने दीपक जलाये थे। उसी समय से लोग—उस रात्रि को दीपोत्सव मनाते हैं।"

(हेमचन्द्र ने "त्रिशिष्ट शलाका पुरुष-चरित" के अन्तिम भाग में जैनों की जानकारी में महावीर के जीवन से सम्बन्धित सभी तथ्यों का समावेश किया है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने जैनियों की दूसरी विभक्ति के बारे में कुछ नहीं कहा है। महावीर के जीवनकाल में ही यह विभक्ति तिस्यगुप्त ने भगवान के केवल ज्ञान के 16 वर्ष बाद प्रारम्भ कर दी थी)

महावीर किस प्रकार के व्यक्ति थे ? जैन शास्त्रों से उनके चरित्र के बारे में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। फिर भी उनके व्यवहार और उनकी उक्तियों से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। वे निश्चय ही दृढ़ इच्छा शक्ति वाले और धैर्यवान पुरुष रहे होंगे। अन्यथा वे अपने परिव्राजक काल के 12 वर्षों में जब वे या तो अकेले या गोशाल के साथ यात्रा कर रहे थे, इतने अत्याचार और दुःख नहीं सह पाते। उनका शारीरिक गठन भी काफी मजबूत रहा होगा।

वे हास्यप्रिय व्यक्ति नहीं लगते और अपने शिष्यों द्वारा हँसी मजाक करना भी पसन्द नहीं करते थे। आचारंग सूत्र में लिखा है, "एक निगंठ समझकर आमोद- प्रमोद का परित्याग कर देता है। केवली कहते हैं — "जो निगंठ आमोद से प्रेरणा लेता है और स्वयं आमोदमय हो जाता है, वह असत्यवादन कर सकता है।"

उनका व्यक्तित्व आकर्षक होगा जिससे वे लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। वे निगंठों के सभी समुदायों को एक करने में सफल हो सके और एक ऐसे धर्म की नीव डाल सके जो 2500 वर्षों तक भी अपरिवर्तित रहा - यह उसी बात का प्रमाण है। उनकी लोगों को आकर्षित करने की शक्ति उनके एक समय के साथी और बाद में उनके विरोधी मक्खलि गोशाल के लिये ईर्ष्या का कारण बनी और उसने आर्द्रक को कहा "सुनो, आर्द्रक, उसने क्या कर दिया है? पहिले तो वह अकेला ही घूमता था परन्तु अब उसने साधुओं का समूह बना लिया है और वह प्रत्येक को विस्तृत रूप से धर्म शिक्षा देता है।"

जेकोबी का कथन है, "महावीर अपने ढँग के महान् व्यक्ति थे और अपने समय के लोगों के एक विशिष्ट नेता थे। उन्हें तीर्थंकर पद उनके जीवन की पवित्रता और धर्म प्रचार में सफलता के कारण प्राप्त हुआ।"

महावीर के निर्वाण की जानकारी बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलती है। वस्तुतः यह रिपोर्ट तीन स्थानों पर उपलब्ध है। ये है :- मज्झिम निकाय, समरागम सूत्र 3.14, दीघ निकाय, पसारिका सूत्र 3.6; दीघ निकाय, पर्याय सूत्र 3.10। इन रिपोर्ट्स का निष्कर्ष निम्न प्रकार है .

एक बौद्ध साधु चुण्डा समानुदेशा अपना चातुर्मास पावा में बिता रहा था। उस समय बुद्ध सामगाम में शकों के मध्य थे। उसी समय निगंठ नायपुत्त पावा में निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। उनकी मृत्यु के बाद निगंठ दो भागों में विभक्त हो गये थे। वे लड़ रहे थे, झगड़ रहे थे और एक दूसरे को आघात पहुँचा रहे थे। "तुम अनुशासन के नियमों से अनभिज्ञ हो।" "मुझे अनुशासन के नियम का ज्ञान है।" तुम्हारे विश्वास झूठे हैं मेरे विश्वास सही हैं।" आदि। इस प्रकार नायपुत्त के निगंठ जैसे एक दूसरे से युद्ध कर रहे हों।"

चुण्डा समानुदेश ने पावा में चातुर्मास पूर्ण होने पर जाकर सारी बात आनन्द को बतलाई।" इस पर पूजनीय आनन्द ने कहा "आदरणीय चुण्डा, यह समाचार भगवान को बतलाने लायक है। चलो हम भगवान के पास चलते हैं।"

तब पूजनीय आनन्द और चुण्डा समानुदेश बुद्ध के पास गये और उन्हें प्रणाम कर एक ओर बैठ गये तथा तब पूज्य आनन्द ने कहा "भगवन। यह चुण्डा समानुदेशा बतलाता है कि "निगंठ नायपुत्त का निर्वाण हो गया है।"

बौद्ध ग्रन्थों में यह तथ्य इतना स्पष्ट उल्लेखित है कि यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि महावीर के निर्वाण के समय बुद्ध जीवित थे। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्ध का निर्वाण पहिले हो चुका था । बाद का यह मत सिंहल बौद्ध की परिपाटी पर आधारित है कि वे ईसा पूर्व 544 वर्ष में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। चूंकि जैनों का विश्वास है कि महावीर ईसा पूर्व 527 में निर्वाण को प्राप्त हो चुके थे इससे यह लगता है कि बुद्ध महावीर के निर्वाण से 16 या 17 वर्ष पूर्व ही मुक्त हो चुके थे। जो भी हो, यह मामला विवादों से मुक्त नहीं है। हेमचन्द्र जो कि जैन धर्म के इतिहासकार हैं, ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य महावीर के निर्वाण के 155 वर्ष बाद सम्राट बना। इससे महावीर के निर्वाण की तिथि ईसा पूर्व 468 वर्ष बन जाती है। इसके अलावा कुछ और भी मत महावीर और बुद्ध के निर्वाण के बारे में हैं।

अध्याय - 5

महावीर के बाद का जैन संघ

श्वेताम्बर कथन :

जहाँ तक हम जानते हैं, महावीर के बाद प्रथम एक या दो सदियों तक जैन धर्म उसी क्षेत्र में सीमित रहा जहाँ कि उन्होंने धर्मोपदेश दिये थे। महावीर के प्रमुख शिष्य (सुधम्मा) जैन धर्म के मुखिया बने। उनके नाम को बाद में शुद्ध कर "सुधर्मा" कर दिया। महावीर के ग्यारह प्रमुख शिष्य बतलाये जाते हैं जिन्हें "गणधर" कहते हैं। उनमें से नौ महावीर के जीवन काल में ही मुक्त गये और केवल दो "सुधर्मा" और "इन्द्रभूति गौतम" शेष रहे। परन्तु हम सुधर्मा के अलावा अन्य दस गणधरों के बारे में कुछ नहीं जानते। इन दस की ऐतिहासिकता के बारे में भी प्रश्न चिह्न है। जो भी हो जैन धर्म के इतिहास में यह स्पष्ट है कि उनके अस्तित्व को सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। इन दस गणधरों के कोई उत्तराधिकारी नहीं हैं। न ही इन्होंने महावीर के बाद जैन धर्म के विकास में कोई योगदान दिया।

दूसरी ओर सुधर्मा एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। महावीर के कई उपदेश, हमें सुधर्मा द्वारा, अपने प्रमुख शिष्य "जम्बूस्वामी" को दिये गये उपदेशों के रूप में ज्ञात हुए हैं। जैन शास्त्रों में बहुत सारे उपदेश सुधर्मा के इन शब्दों के साथ प्रारम्भ होते हैं, "अय जम्बूस्वामी_।" महावीर के बाद सुधर्मा बीस वर्ष जीवित रहे। ऐसा कहा जाता है कि महावीर के निर्वाण के बारह वर्ष बाद वे "केवली" बने और फिर आठ वर्ष और जिये। निर्वाण के समय उनकी उम्र सौ वर्ष की थी। उनके प्रमुख शिष्य जम्बूस्वामी उनके उत्तराधिकारी के रूप में संघ के अध्यक्ष बने। चव्वालीस वर्ष बाद, जम्बू के निर्वाण होने पर उनके प्रमुख शिष्य प्रभव वीर संवत् 64 में उनके उत्तराधिकारी बने। इस प्रकार कई पीढ़ियों तक जैन संघ में सर्वोच्च गरिमा एवं शक्ति का पद गुरु से शिष्य को प्राप्त होता रहा।

यह बतला देना आवश्यक है कि यह श्वेताम्बरों का कथन है। कुछ दिगम्बरों का मानना है कि महावीर के प्रथम दो उत्तराधिकारी गौतम और लोहाचार्य थे। जम्बू लोहाचार्य के शिष्य थे। कुछ दिगम्बर यह मानते हैं कि गौतम के उत्तराधिकारी सुधर्मा थे तथा लोहाचार्य सुधर्मा का ही दूसरा नाम है। जो भी हो, जैन धर्म के इतिहास के लिये, हमें श्वेताम्बरों का कथन ही मानना पड़ेगा। दिगम्बरों ने अपने धर्म-संघ के बारे में कोई इतिहास नहीं लिखा है और कुछ पट्टावलियों और शिलालेखों के अलावा,

महावीर के बाद की कुछ सदियों तक के बारे में उनके कथन की कोई जानकारी नहीं है।

श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर के उत्तराधिकारियों की सूची, कल्पसूत्र के थेरावली (स्थविरावली) अध्याय में तथा दो अन्य शास्त्रों में दी गई है। ये दो शास्त्र हैं "नन्दी" और "आवश्यक" सूत्र। इन दो सूत्रों में धर्माध्यक्षों की जो सूची दी गई है वह महागिरि और सुहस्ती तक कल्पसूत्र की सूची से मिलती है। महागिरि और सुहस्ती महावीर के बाद आठवीं पीढ़ी के धर्माध्यक्ष हैं। इस बिन्दु पर आकर उत्तराधिकारी दो शाखाओं में बँट जाते हैं। एक महागिरि की तथा दूसरी सुहस्ती की। प्रथम सूची "नंदी" और "आवश्यक" सूत्र में दी गई है जबकि दूसरी कल्पसूत्र में। दो शाखायें एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र है और कोई भी नाम समान नहीं है। पुराने कथानकों में जो भी नाम आते हैं वे सुहस्तिन की शाखा के हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है महागिरि की शाखा का केवल एक ही नाम मंगू अभिधान (राजेन्द्र कोष) का है जिसके बारे में कोई पौराणिक गाथा हो।

इस प्रकार श्वेताम्बरों के लिये व्यावहारिक रूप में कल्पसूत्र द्वारा जो सूची दी गई है — वह ही प्रामाणिक है। फिर भी कल्पसूत्र उत्तराधिकारियों की सूची के अलावा, जैन धर्म के आचार्यों के बारे में अन्य कोई सूचना नहीं देता। इसका इतिहास तो हेमचन्द्र द्वारा रचित "परिशिष्टपर्वम्" या "स्थविरावली" और भद्रेश्वर की "कथावली" जो प्राकृत गद्य का महान् ग्रन्थ है — में दिया गया है। ये दोनों पौराणिक इतिहास हैं। ये अधिकतर आचार्यों के अथवा तत्कालीन राजाओं के जीवन से सम्बन्धित कथाओं का उल्लेख करते हैं। जैनों का इतिहास जो आगे दिया गया है वह अधिकाश हेमचन्द्र की "स्थविरावली" पर आधारित है। स्थविरावली के अधिकांश भाग में आचार्यों द्वारा पूर्व जन्म में किये गये अच्छे कार्यों का वर्णन है जिसके कारण उनको वर्तमान में सन्त जीवन की उपलब्धि हो पाई। इन ग्रन्थों में उस समय की राजनैतिक घटनाओं का भी उल्लेख है विशेष तौर से वो जिन पर जैन धर्म का कोई प्रभाव पड़ा हो। ये वर्णन सभी के लिये रुचिकर हैं। घटनायें इस प्रकार वर्णित हैं जैसा कि जैन इन्हें होना चाहते थे न कि वैसे जैसा कि वे वास्तव में हुई थीं।

महावीर के प्रथम छः आचार्य निम्न थे —

1. सुधर्मा　　2. जम्बू　　3. प्रभव

4. शय्यम्भव　　5. यशोभद्र　　6 भद्रबाहु एवं संभूतविजय

सुधर्मा ·

"सुधर्मा पचास वर्ष की आयु में साधु बने, तीस वष तक महावीर के शिष्य रहे, तथा उनके निर्वाण के 12 वर्ष बाद उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके आठ वर्ष बाद, 100 वर्ष की आयु पूर्ण कर वे मोक्ष गये।"

जम्बू :

"सुधर्मा के उत्तराधिकारी जम्बू थे। ऐसा कहा जाता है कि एक बार सुधर्मा अपने शिष्यों के साथ जिनमें जम्बू भी थे — चम्पा आये और नगर के बाहर एक स्थान पर निवास करने लगे। हमेशा की तरह लोगों की भीड़ उनका उपदेश सुनने के लिये एकत्रित हो गई। राजा कुणिक (अजातशत्रु) ने भीड़ को देखा और वे भी उपदेश सुनने आ गये। जब व्याख्यान समाप्त हो गया तो राजा ने सुधर्मा से पूछा कि यह जम्बू कौन है — क्योंकि राजा उनके सौन्दर्य और विशिष्ट व्यक्तित्व से अत्यन्त ही प्रभावित हो गया था। सुधर्मा ने जम्बू की कहानी बतलाई और भविष्यवाणी की कि वह अन्तिम केवली होगा। उसके बाद कोई व्यक्ति मनः पर्याय तथा परमावधि तक जो कि सर्वोच्च ज्ञान की स्थिति है — नहीं पहुँच पायेगा। लोग जिन कल्प को अन्य धार्मिक संस्थाओं और क्रियाओं के साथ छोड़ देंगे तथा इस धरती पर लोगों की पवित्रता में भी कमी आ जायेगी।"

सम्भवतः यहीं श्वेताम्बर - और दिगम्बर संघ के बीच की विभक्ति के प्रथम आसार दृष्टिगत होते हैं। जिन कल्प का एक आचरण है — साधुओं का पूर्ण नग्न रहना। श्वेताम्बर साधुओं ने यह प्रथा छोड़ दी और वे स्थविरकल्प की प्रथा मानने लगे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जम्बू के उत्तराधिकारी प्रभव — जो स्थविर कल्प के मानने वाले थे — का नाम दिगम्बरों के आचार्यों की सूची में नहीं है।"

प्रभव :

महावीर के 64 वर्ष बाद जम्बू, कात्यायन गोत्र के प्रभव को संघ का अध्यक्ष नियुक्त कर, मोक्ष प्राप्त हुए।

शय्यम्भव :

शय्यम्भव जन्म से नास्तिक था। पहिले उसने गुरु के पास वैदिक धर्म का अध्ययन किया था। एक बार वह दो साधुओं को मिला जिन्होंने कहा "अरे तुम सत्य को नहीं जानते"। इस पर उसके मस्तिष्क में उथल-पुथल मच गई और कुछ दिनों बाद उसेने अपने गुरु से विदाई ली और उन दो साधुओं की खोज में निकल पड़ा। अन्त में वह प्रभव के पास आया और उसने जैन धर्म के बारे में उपदेश ग्रहण किया। प्रभव ने उसे जैनियों के पाँच महाव्रतों के बारे में बतलाया तो शय्यम्भव ने अपने नास्तिक विचारों को त्याग दिया। उसे दीक्षा दी गई और वह बड़ा उग्र तपस्वी बन गया। उसने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और प्रभव की मृत्यु के बाद संघ का अध्यक्ष बना।"

दशवैकालिका

जब शय्यम्भव ने दीक्षा ली तो उसने अपने पीछे अपनी युवा पत्नी को छोड़ दिया था तब तक उनके कोई संतान नहीं थी। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि उस परित्यक्ता स्त्री का मामला बहुत ही शोचनीय लगता था, इसलिये लोग उससे पूछने लगे

कि बच्चा होने की क्या कोई आशा भी नहीं है ? उसने प्राकृत में कहा "मणगं अर्थात् थोड़ी सी"। अन्त में जिस बच्चे को उसने जन्म दिया वह "मणक" कहलाया। जब मणक आठ वर्ष का हो गया और जब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी माँ विधवा के वस्त्र धारण नहीं कर रही तो उसने उससे अपने पिता के बारे में पूछा। तब उसने जाना कि उसका पिता शय्यम्भव था जिसने उसके उत्पन्न होने से पूर्व ही घर त्याग दिया था और फिर वापस नहीं लौटा। मणक जो अपने पिता से मिलना चाहता था गुप्त रूप से अपनी माँ को छोड़कर चम्पा चला गया। वहाँ वह अपने पिता से मिला और चूँकि वह उसे पहिचान नहीं सका, उसने अपने पिता के बारे में पूछा और कहा कि वह उनसे दीक्षित होना चाहता है। इस पर शय्यम्भव ने उसे बतलाया कि वो उसके पिता का घनिष्ठतम मित्र है और उनके बदले वह उसे दीक्षित कर देगा। मणक के सहमत होने पर शय्यम्भव उसे अन्य साधुओं के पास लाया परन्तु अपने सम्बन्धों के बारे में किसी से कुछ नहीं कहा। तब उस लड़के को दीक्षा दिलवा दी गई। शय्यम्भव को देवी शक्ति से यह ज्ञात हो गया था कि उसका पुत्र छः महीने में ही मर जायेगा। सारी पवित्र गाथाओं पर अधिकार करने के लिये समय की कमी होने से, शय्यम्भव ने इनका सार दस अध्यायों में समाविष्ट कर दिया। जिसकी रचना उन्होंने एक ही दोपहरी में कर डाली। इसलिये इस रचना का नाम "दशवैकालिक" है। यद्यपि धर्म का संक्षिप्तिकरण करने की अन्तिम दशा पूर्वी के अलावा किसी को आज्ञा नहीं है परन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह कार्य श्रुतकेवली भी कर सकते हैं। मणक ने "दशवैकालिक" का अध्ययन किया और इस प्रकार उसका धर्म ज्ञान अच्छा हो गया। छः माह की समाप्ति पर जब वह मरा तब उसकी मृत्यु पर शय्यम्भव इतना रोये कि उनके शिष्य उनका दुखः समझ पाने में असमर्थ थे। संसार त्याग करने वाले संन्यासी के लिए ऐसा व्यवहार शोभनीय नहीं था और उन्होंने शय्यम्भव को यही कहा। तब उसने मणक का इतिहास बतलाया और कहा कि वह तो प्रसन्नता के मारे रो रहा है क्योंकि उसका पुत्र एक संत की तरह मरा है। उनके शिष्यों को यह जानकर कि मणक उनके आचार्य का पुत्र था आश्चर्य हुआ कि गुरु जी ने यह बात पहिले क्यों नहीं बतलाई। शय्यम्भव ने उत्तर दिया कि यदि उन्हें यह ज्ञान होता कि मणक मेरा पुत्र है तो उससे वैसे ही आज्ञा पालन नहीं करवाते जैसा कि हर नये शिष्य से करवाते हैं — जो उसकी नैतिक शिक्षा का सर्वोत्तम हिस्सा है। उन्होंने बतलाया कि मणक की शिक्षा के लिए ही उन्होंने 'दशवैकालिक'की रचना की थी परन्तु चूँकि उनका उद्देश्य पूर्ण हो गया है अतः वे अब उस ग्रन्थ को लुप्त कर देंगे। शिष्यों ने संघ के द्वारा शय्यम्भव को निवेदन किया कि वे दशवैकालिक का प्रकाशन करें। शय्यम्भव ने संघ की इच्छा को मानकर ग्रन्थ को सुरक्षित रखने की अनुमति दे दी।

यशोभद्र

यशोभद्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर, शय्यम्भव मृत्यु को प्राप्त हो गये।

भद्रबाहु और सम्भूतविजय

एक अनुकरणीय तपस्वी और आचार्य का जीवन जी कर यशोभद्र मर गया। उसने संघ का प्रशासन अपने शिष्य भद्रबाहु और संभूत विजय के कंधों पर डाला।

हेमचन्द्र अपनी स्थविरावली में इस समय 100 वर्ष पीछे जाकर उस समय का वर्णन करते हैं जब मगध की राजधानी पाटलीपुत्र की स्थापना हुई थी। वे नन्दों और मौर्यों के समय के राजनैतिक इतिहास का भी वर्णन करते हैं और तब जैन धर्म के इतिहास पर वापस लौटते हैं।

पाटलीपुत्र की स्थापना

"महावीर के समय में कुणिक मगध सम्राट था। कुणिक की राजधानी चम्पा थी। जब वह मरा तो उसका पुत्र उदयन उसका उत्तराधिकारी बना। उसके महल में प्रत्येक वस्तु उसको अपने मृत पिता की याद दिलाती—जिससे वह बहुत ही उदास हो गया। उसके मंत्रियों ने उसे नई राजधानी बसाने के लिए प्रेरित किया जिस प्रकार कुणिक ने अपने पिता की मृत्यु पर राजगृह को छोड़कर चम्पा को राजधानी बनाया था। भविष्य की राजधानी के लिए उचित स्थान निर्धारित करने के लिए उदयन ने कुछ व्यक्तियों को जो शकुन में समझते थे भिजवाया था। जब वे गंगा किनारे पहुँचे तब उन्हें एक विशाल पाटली वृक्ष मिला। उस वृक्ष की डाल पर एक 'चासा' चिड़िया बैठी थी। यह चिड़िया बार-बार अपनी चोंच खोलती और कीट पतंगे अपने आप उसके मुँह में आकर गिरते। यह शकुन देखते ही, शकुनि लोग राजा के पास लौटे और उस स्थान पर नई राजधानी बसाने की सिफारिश की। एक वृद्ध शकुनि ने तब घोषणा की कि पाटली वृक्ष कोई साधारण वृक्ष नहीं है क्योंकि उसने इसके बारे में बुद्धिमान व्यक्तियों से एक कथा सुनी थी। कथा एक अन्निका पुत्र के बारे में थी जो कठिन परिस्थितियों के बावजूद ध्यान करने में सफल हुआ था और निर्वाण प्राप्त कर सका था। उस घटना का देवताओं ने इसी स्थान पर उत्सव मनाया था। यह स्थान तब से प्रसिद्ध तीर्थ हो गया और प्रयाग कहलाया। अन्निका पुत्र का कपाल नदी में बह गया था और नदी के किनारे आ लगा। वहाँ पाटली वृक्ष का बीज इसके अन्दर चला गया और वहीं उग कर वह एक बड़ा वृक्ष बन गया—जो नई राजधानी का स्थान बना। इस नगर के मध्य में जैन भक्त सम्राट द्वारा एक सुन्दर जैन मंदिर का निर्माण करवाया गया।"

नन्द मगध का सम्राट कैसे बना

मगध सम्राट उदयन की एक शत्रु राजा के दूत द्वारा हत्या कर दी गई। उदयन निःसंतान था। उसके मंत्रियों ने शाही हाथी को जुलुस बनाकर, नये सम्राट की खोज में नगर के मुख्य मार्गों पर भेजा। उस समय नन्द विपरीत दिशा में अपनी बरात लेकर लौट रहा था। नन्द एक नाई की रखैल का पुत्र था। जब दोनों जुलूस मिले, हाथी ने नन्द को अपनी पीठ पर बिठा लिया, घोड़ा हिनहिनाने लगा और अन्य शुभ शकुन

दृष्टिगोचर होने लगे। संक्षिप्त में यह स्पष्ट ही लगने लगा कि सभी शाही निशान उसे उदयन का उत्तराधिकारी घोषित कर रहे थे। यह घटना महावीर के निर्वाण के 60 वर्ष बाद की है। नन्द के मंत्री का नाम कल्पक था।

स्थूलभद्र

नन्द की सात पीढ़ियों ने राज्य किया। नन्द राजाओं के मंत्री कल्पक के वंशज थे। नवे नन्द का मंत्री भी कल्पक के वंशजों में से था— उसका नाम शकटार था। उसके दो पुत्र थे—स्थूलभद्र और श्रीयक। श्रीयक राजा की सेवा में था और उनका विश्वासपात्र भी था। शकटार की मृत्यु पर, राजा ने श्रीयक को प्रधान मंत्री की मोहर सौंपी परन्तु उसने अपने भाई स्थूलभद्र के पक्ष में लेने से मना कर दिया। तब स्थूलभद्र को यही प्रस्ताव किया गया—तब उसने कहा कि वह इस पर विचार करेगा। तुरन्त निर्णय लेने के लिए आदेश आ गया। उसके विचारों में अप्रत्याशित परिवर्तन आ गया। संसार की असारता को देखकर उसने उसके सुखों का परित्याग करने का विचार किया तथा अपने बालों का लोच कर सम्राट को अपने निर्णय से अवगत करा दिया। उसने बाद में सभूत विजय के पास दीक्षा ग्रहण की।

चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त

चाणक्य ब्राह्मण चानिन जो एक जैन भक्त था का पुत्र था। एक बार नवें नन्द के दरबार से चाणक्य को बाहर निकाल दिया गया था। गलती चाणक्य की ही थी— क्योंकि उसने दुर्व्यवहार किया था—परन्तु वह इस अपमान से दुखी था और बदला लेना चाहता था। उसने चन्द्रगुप्त से भेंट की और उसे नन्दों की राजधानी पाटलीपुत्र पर आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया। परन्तु जब-जब चन्द्रगुप्त ने आक्रमण किया वह हार गया। तब चाणक्य ने आसपास के क्षेत्रों को जीतने की नीति अपनाई। उनमें से एक नगर बड़ी दृढ़ता से अपना बचाव कर रहा था। चाणक्य को ज्ञात हुआ कि यह नगर सात माताओं की मूर्ति द्वारा रक्षित है। तब वह त्रिदण्डी का रूप धारण कर नगर में घुसा और लोगों द्वारा इस मूर्ति को हटवाने में सफल हो गया। तब चन्द्रगुप्त ने वह नगर जीत लिया। एक-एक कर चन्द्रगुप्त ने आसपास के सारे क्षेत्र पर आधिपत्य जमा लिया और अन्त में पाटलीपुत्र भी लेने में सफल हो गया—जहाँ पर वह राजगद्दी पर बैठ गया। यह घटना महावीर के निर्वाण के 155 वर्ष बाद घटित हुई।

चाणक्य के निर्देश पर चन्द्रगुप्त द्वारा जैन आचार्यों का चयन

प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त अजैन आचार्यों को चाहता था। यह साबित करने के लिए कि अजैन आचार्य बेकार है चाणक्य ने उन्हें राजमहल में आमंत्रित किया। उसने शाही निवास की ओर खुलने वाली खिड़की के नीचे फर्श पर कुछ धूल बिछवा दी। जब कोई भी राजमहल का नौकर वहाँ नहीं था वे अजैन गुरु खिड़की तक गये और झाँक कर आये। चाणक्य ने उन गुरुओं के पदचिह्न सम्राट को दिखलाये और यह सिद्ध कर दिया

कि वे स्त्रियों को देख रहे थे। जैन आचार्य जो दूसरे दिन आमंत्रित किये गये थे, अपने ही आसनों पर शुरू से अन्त तक बैठे रहे और इस बार खिड़की के सामने फर्श पर धूल अस्पर्श्य रही। चन्द्रगुप्त जैन आचार्यों की पवित्रता का साक्ष्य देखकर प्रभावित हुआ और उन्हें अपना आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक बना लिया।

बिन्दुसार का जन्म और चन्द्रगुप्त की मृत्यु

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की जीवनपर्यन्त मंत्री की हैसियत से सेवा की। चाणक्य के आदेश पर चन्द्रगुप्त के भोजन में विष मिलाया जाता जिसकी मात्रा धीरे-धीरे इतनी बढ़ाई गई कि शक्तिशाली से शक्तिशाली विष का भी उस पर असर नहीं हो सकता था। एक बार रानी दुर्धरा जो गर्भवती थी सम्राट के साथ भोजन कर रही थी तब चाणक्य वहाँ आया। यह देखकर कि विष के कारण रानी मरी जा रही है, उसने उसका पेट चीर कर बालक को बाहर निकाल लिया। परन्तु उसे थोड़ी देर हो गई थी, जिससे जहर की एक बून्द बालक के मस्तक पर गिर गई और इसी कारण वह बालक बिन्दुसार कहलाया। परिपक्व अवस्था में चाणक्य ने बिन्दुसार को उसके पिता की मृत्यु पर (जो समाधि लेने से मरे थे) राजगद्दी पर बैठाया।

अशोक एवं सम्प्रति

"बिन्दुसार की मृत्यु पर उसका पुत्र अशोक उसकी राजगद्दी पर बैठा। अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को, जो भविष्य में उसका उत्तराधिकारी बनने वाला था, शिक्षा हेतु उज्जयनी भिजवा दिया। जब राजकुमार आठ वर्ष का हुआ, सम्राट ने अध्यापकों को प्राकृत भाषा में लिखवाया कि अब कुणाल का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया जावे। अशोक की एक रानी जो अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी जो उस समय उपस्थित थी, पढ़ने के लिए यह पत्र उठाया और 'अधीयऊ ' शब्द में 'अ' के ऊपर एक बिन्दी लगाकर 'अंधीयऊ' कर दिया जिसका तात्पर्य हो गया इसे अंधा कर दिया जावे। बिना पढ़े ही सम्राट ने पत्र को सील कर रवाना कर दिया। उज्जयनी के कर्मचारी को इस पत्र के समाचार पढ़कर इतना धक्का लगा कि वह इसे जोर से राजकुमार के सामने पढ़ भी नहीं सका। कुणाल ने तब उसके हाथ से पत्र छीनकर अपने पिता के क्रूर आदेश को स्वयं ही पढ़ लिया। चूंकि आज तक किसी भी मौर्य राजकुमार ने इस वंश के प्रमुख के आदेशों की अवहेलना नहीं की थी, और इस पर कोई गलत उदाहरण न बन जाय, उसने गर्म सलाखों से अपनी आँखें फोड़ डालीं।"

वर्षों बाद जब कुणाल अशोक की राजसभा में एक गवैये के रूप में आया तो राजा उसका गाना सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पुरस्कार देना चाहा। इस पर गवैये ने अपना हिस्सा माँगा। एक दरबारी ने तब बतलाया कि यह गवैया राजकुमार कुणाल है और अपना उत्तराधिकार मांग रहा है। अशोक ने दुःखी होकर आपत्ति की कि अन्धा होने के कारण उसको कभी भी राजगद्दी नहीं मिल सकती। तब कुणाल ने कहा

कि वह अपने लिये नहीं, अपने पुत्र के लिये राज्य माँग रहा था। इस पर राजा चिल्लाया 'क्या तुम्हारे कोई पुत्र उत्पन्न हुआ है ?' उत्तर था 'अभी अभी (सम्प्रति)' इस प्रकार कुणाल के पुत्र का नाम संम्प्रति पड़ा और यद्यपि अभी तक वह गोद का बालक था फिर भी अशोक ने उसको उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जो अशोक की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा और एक शक्तिशाली सम्राट बना। सम्प्रति बड़ा ही पक्का जैनी था।

हेमचन्द्र तब यह बतलाते हैं कि किस प्रकार स्थूलभद्र ने दस पूर्वों को सुरक्षित रखा। इस प्रसिद्ध घटना का प्रमुख चरित्र भद्रबाहु है और भद्रबाहु महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष बाद स्वर्गवासी हुए, यानी कि चन्द्रगुप्त के गद्दी प्राप्त करने के 15 वर्ष बाद। इससे स्पष्ट है कि निम्नांकित घटना चन्द्रगुप्त के शासन में ही घटित हुई थी।

स्थूलभद्र द्वारा भद्रबाहु से पूर्वों के ज्ञान की प्राप्ति

"इस समय एक भयंकर अकाल के कारण साधुओं को बहुत दूर-दूर समुद्रों के किनारों तक निष्क्रमण करना पड़ा। इन उथल-पुथल के दिनों में उनका नियमित अध्ययन छूट गया जिससे उनकी पवित्र गाथाओं के खो जाने का भय उत्पन्न हो गया। जब अकाल समाप्त हो गया तब पाटलीपुत्र में संघ की सभा हुई जिसमें शास्त्रों के हिस्से, जो साधुओं को याद रह गये थे एकत्रित किये गये और इस प्रकार ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। दृष्टिवाद को प्राप्त करने के लिये, संघ ने कुछ साधुओं को नेपाल में भद्रबाहु के पास भेजा तथा उन्हें सभा में सम्मिलित होने के निर्देश दिये। भद्रबाहु ने आने से मना कर दिया क्योंकि उन्होंने महाप्राण व्रत प्रारम्भ कर दिया था जिसमें 12 वर्ष लगने वाले थे परन्तु उन्होंने कहा कि उसके बाद कुछ ही समय में वे सारा "दृष्टिवाद" पढ़ा देंगे। यह उत्तर पाकर संघ ने फिर दो साधुओं को उनके पास भिजवाकर पूछा कि जो व्यक्ति संघ के निर्देशों की अवहेलना करता है उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए। यदि उनका उत्तर जाति बाहर करने का हो तो उन्हें कहना कि यही आपका दण्ड है। जैसा कि भद्रबाहु ने सोचा था—वैसा ही होने पर भद्रबाहु ने निवेदन किया उनकी प्रतिज्ञा को ध्यान में रखकर, संघ कुछ चतुर एवं बुद्धिमान साधुओं को उनके पास भिजवा दे तो वे प्रतिदिन उचित समय पर उन्हें सात अध्याय पढ़ा सकते हैं। इस पर पाँच सौ साधु स्थूलभद्र के नेतृत्व में भद्रबाहु के पास भिजवाये गये। परन्तु स्थूलभद्र को छोड़कर बाकी सभी अपनी धीमी प्रगति के कारण पिछड़ गये। अपने गुरु की प्रतिज्ञा पूर्ण होने तक केवल स्थूलभद्र ही बचा रहा। प्रतिज्ञा की अवधि की समाप्ति तक स्थूलभद्र ने 10 पूर्वों को सीख लिया था।

ऐसा प्रतीत होता है, तब स्थूलभद्र और भद्रबाहु दोनों ही पाटलीपुत्र गये। स्थूलभद्र के सात बहिनें थीं। स्थूलभद्र की सातों बहिनों ने भद्रबाहु के पाटलीपुत्र आगमन पर उनकी वन्दना की और स्थूलभद्र के बारे में पूछने पर उन्हें किसी मंदिर में बतलाया। उनके पहुँचने पर स्थूलभद्र ने सिंह का रूप धारण कर लिया ताकि उसकी बहिनें इस

दृश्य को देखकर चकित हो जायें। बहिनें घबराकर गुरु के पास लौटीं और कहा कि उनके भाई को सिंह खा गया है। भद्रबाहु ने उन्हें आश्वासन दिया कि उनका भाई जीवित है और उनके मंदिर में जाने पर वह उन्हें मिल गया।"

बहिनों के लौटने पर स्थूलभद्र—भद्रबाहु के पास अपने नियमित अध्ययन के लिए गया। भद्रबाहु ने उसे आगे पढ़ाने से मना कर दिया और कहा वह अब इस योग्य नहीं रहा। स्थूलभद्र ने तब कहा कि दीक्षा से लेकर आज तक उसने कोई भी पाप किया हो ऐसा उसे याद नहीं पड़ता परन्तु जो कुछ उसने किया था उसके बारे में याद दिलाने पर वह अपने गुरु के चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगा। परन्तु भद्रबाहु किसी भी प्रकार से पढ़ाने को तैयार नहीं हुए। यहाँ तक कि सारे संघ की विनती पर बड़ी कठिनाई से तैयार हो पाये। अन्त में वे स्थूलभद्र को बचे हुए अन्तिम चार पूर्व इस शर्त पर पढ़ाने को तैयार हुए कि वह इसको आगे किसी अन्य को नहीं सिखलायेगा। महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष बाद, भद्रबाहु की मृत्यु पर स्थूलभद्र जैन धर्म के अध्यक्ष बने।

महागिरि और सुहस्ती

स्थूलभद्र के दो शिष्य थे—महागिरि और सुहस्ती। चूँकि वे यक्ष आर्य द्वारा बड़े किये गये थे, उनके नाम के आगे आर्य लगाया गया था। स्थूलभद्र ने उन्हें दस पूर्वों का ज्ञान पढ़ा दिया था क्योंकि अन्तिम चार पूर्व पढ़ाने की उन्हें मनाही थी। उनके गुरु की मृत्यु पर ये दोनों उनके उत्तराधिकारी बने। कुछ समय बाद, महागिरि ने अपने शिष्यों को सुहस्ती को सौंप दिया और स्वयं 'जिन कल्पिक' की तरह रहने लगा यद्यपि उस समय तक 'जिन- कल्प' की परिपाटी छोड़ी जा चुकी थी।

हेमचन्द्र ने पहिले कहा था कि जम्बू द्वारा 'जिन कल्प' को छोड़ दिया गया था। क्या महागिरि द्वारा 'जिन- कल्प' ग्रहण करने का तात्पर्य यह तो नहीं कि जैन धर्म तब तक श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखाओं में विभक्त हो गया हो। परन्तु यह सही नहीं प्रतीत होता क्योंकि दिगम्बरों के स्थविरों की सूची में महागिरि का नाम कहीं भी नहीं नजर आता। हेमचंद्र का यह कथन कि महागिरी ने अपने शिष्यों को सुहस्ती को सौंप दिया था, सही नहीं प्रतीत होता क्योंकि श्वेताम्बरों के ग्रन्थ नन्दीसूत्र में महागिरि के शिष्यों की सूची है और यह सूची कल्पसूत्र के सुहस्तिन के उत्तराधिकारियों की सूची से बिल्कुल भिन्न है।

दूसरे शब्दों में जब महागिरि ने 'जिन कल्प' की तरह रहना प्रारम्भ किया था तब या तो उसने अपने शिष्यों को सुहस्तीन को नहीं सौंपा और यदि सौंपा भी तो उसने अपने शिष्यों का एक नया समूह तैयार कर लिया। जो भी हो एक बात स्पष्ट है कि महागिरि के उत्तराधिकारियों ने जैन धर्म के इतिहास पर कोई छाप नहीं छोड़ी। सिवाय नन्दीसूत्र की सूची के, उनका नाम खो सा गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, केवल मात्र एक मंगू का नाम ही ऐसा है जो बाद की गाथाओं में आया है।

जैन धर्म का प्रचार

बौद्ध धर्म सारे भारत, और भारत के बाहर भी कुछ स्थानों पर अशोक द्वारा धर्म प्रचार के प्रयासों के कारण फैला। हेमचन्द्र के अनुसार ऐसा ही प्रयास जैन धर्म के लिए अशोक के पौत्र सम्प्रति ने भी किया था। हेमचन्द्र कहते हैं "राजा सम्प्रति सुहस्तीन को अपना सबसे बड़ा हितैषी समझता था क्योंकि उन्होंने ही उसे सच्चे धर्म की दीक्षा दी थी और उसके बाद वह धर्म के सभी नियमों का कठोरता से पालन करने लगा। उसने सारे जम्बूदीप में जिन मंदिरों का निर्माण करवा कर अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन किया। सम्प्रति का उदाहरण और उसकी मंत्रणा के कारण उसके अधीनस्थ राजाओं ने भी जैन धर्म स्वीकार कर लिया ताकि न केवल उसके राज्य परन्तु आसपास के राज्यों में भी साधु लोग अपने धर्म का पालन कर सकें।

असभ्य देशों में अपने कार्य क्षेत्र को बढ़ाने की नीयत से, सम्प्रति ने जैन साधुओं के भेष में संदेशवाहकों को भिजवाया। उन्होंने लोगों को बतलाया कि साधु लोग भिक्षा में कैसा भोजन और अन्य सामग्री ग्रहण करते हैं। उन्हें कहा गया कि राजस्व वसूल करने के लिये जो संग्राहक आते हैं उन्हें राजस्व न देकर बदले में जब-जब भी साधु आयें उन्हें जैसी वस्तुएँ चाहिए वैसी ही दे दी जावें। वास्तव में ये राजस्व संग्राहक ही होने वाले जैन साधु होते थे। इस प्रकार उनका मार्ग प्रशस्त कर, उसने वरिष्ठ प्राचार्यों को उन देशों में साधुओं को भिजवाने के लिए प्रेरित किया क्योंकि वहाँ अब उनका रहना इतना कठिन नहीं रह गया था। तदनुसार धर्म प्रचारकों को अन्द्रा और द्रामिला भेजा गया, जहाँ उन्हें वैसी ही स्थिति मिली जैसी कि राजा ने उन्हें बतलाई थी। इस प्रकार असभ्य राष्ट्रों को जैन धर्म के प्रभाव में लाया गया।"

"राजा सम्प्रति की धर्म के प्रति ऐसी निष्ठा थी कि अपने व्यापारियों को कह दिया था कि साधुओं को जो वस्तु चाहिये उन्हें मुफ्त दे दी जावे तथा उसके बदले भुगतान राज्य के कोष से प्राप्त कर लिया जावे। इसकी कल्पना की जा सकती है कि राजा के इस आदेश को मानने में व्यापारियों ने कोई आनाकानी नहीं की।"

इस सब का जैन साधुओं पर विकृत प्रभाव पड़ा और पितृवत् महागिरि जो त्याग भावना से प्रेरित था, ने इसका प्रतिरोध किया। हेमचन्द्र आगे लिखते हैं :

"धर्म के नियमों के अनुसार साधु भिक्षा में उन वस्तुओं को स्वीकार नहीं कर सकते थे परन्तु सुहस्ती जो सम्राट के नाराज होने से डरता था, उसका प्रतिरोध करने की हिम्मत नहीं कर सका। महागिरि ने इस कारण सुहस्ती की घोर निन्दा की और उससे अलग होने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसने कहा कि एक पुरानी भविष्यवाणी के अनुसार स्थूलभद्र के बाद जैनों के आचरण में गिरावट आ जायेगी। इसके बाद उसने जीवंत स्वामी के बिम्ब को नमस्कार कर अवन्ति से विदा ली और गजेन्द्रपाद तीर्थ चला गया। वहाँ उसने आमरण व्रत किया और इस प्रकार उसका स्वर्गवास हो गया। अपने

राज्य काल के अंत तक सम्प्रति जैनों का संरक्षक बना रहा और अन्त में देवता बना तथा जो भविष्य में सिद्धि प्राप्त करेगा।"

उज्जयनी में महाकाल का मन्दिर

एक सेठ का पुत्र अवन्ति सुकुमाल था। एक बार उसने सुहस्तिन का व्याख्यान सुना और जैन धर्म की ओर आकृष्ट हो गया। उसने दीक्षा ले ली परन्तु वह इतना कमजोर था कि साधु जीवन के कष्टों को नहीं सह पाया और मर गया। उसके पुत्र ने उस स्थान पर जहाँ उसके पिता ने साहसपूर्वक मृत्यु का सामना किया था,एक भव्य मंदिर का निर्माण करवाया। यह मंदिर अब भी है और विश्व में महाकाल के नाम से प्रसिद्ध है। (हेमचंद्र ने यद्यपि स्पष्ट प्रकार तो नहीं कहा परन्तु उसका तात्पर्य तो यही है कि वास्तव में यह जैन मंदिर था और बाद में शैवों ने इसको हिन्दू मंदिर में परिवर्तित कर दिया। तेरहवीं सदी (ईसा बाद 1234) में इल्तमश ने इस मंदिर को नष्ट कर दिया। इसी स्थान पर पेशवा के दीवान रामचंद्र ने 1745 में महाकाल के वर्तमान मंदिर का निर्माण करवाया।)

"समय आने पर सुहस्तिन—आमरण अनशन कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और स्वर्ग गया।"

हेमचन्द्र तब अगले चार संघ अध्यक्षों के नामों को छोड़कर जो सुहस्तिन के बाद आते हैं, पाँचवें अध्यक्ष वज्र के जीवन का वर्णन करते हैं।

कल्पसूत्र में सुहस्तिन के बाद आचार्यों की सूची निम्नानुसार है:

8. सुहस्तिन 9. सुस्थित सुप्रतिबुद्ध

10. इन्द्र 11. दिन्ना

12. सिंहगिरि 13. वज्र

हेमचन्द्र सुस्थित, इन्द्र एवं दिन्न का नाम ही लेते हैं और वज्र के गुरु के रूप में केवल सिंहगिरि का ही उल्लेख करते है।

वज्र धनगिरी का पुत्र और सिंहगिरी का शिष्य था। धनगिरी ने अपनी पत्नी के गर्भवती होते ही, गृहत्याग कर दिया था। इस परित्यक्ता स्त्री के जो शिशु उत्पन्न हुआ वह बड़ा ही उत्पाती था और उसके सम्बन्धियों ने उसे सिंहगिरी को—जब वे उस क्षेत्र में धर्म प्रचार करने आये, सौंप दिया। चूँकि बच्चा बहुत ही भारी था, सिंहगिरी ने उसका नाम वज्र रखा। तब उसे पवित्र धर्म ग्रन्थों की शिक्षा दी गई। सिंहगिरी चाहता था कि वज्र धर्म ग्रन्थों के ज्ञान पर आधिपत्य प्राप्त कर ले— इसलिए उसे उज्जयनी में भद्रगुप्त के पास भेजा गया। भद्रगुप्त का दस पूर्वो पर अधिकार था।

"वज्र के पहुँचने पर भद्रगुप्त ने उसका बड़ा स्वागत किया तथा उसे दस पूर्वो का ज्ञान तत्परता से दिया। थोड़े ही समय में वज्र का उद्देश्य पूर्ण हो गया और वह

दशपुर में अपने गुरु के पास लौट आया। गुरु ने उसे पूर्वों की शिक्षा देने की अनुमति प्रदान कर दी— जिस पर देवताओं ने फूलों की वर्षा कर खुशियाँ मनाई। सिंहगिरी ने अपने गणों को वज्र को सौंप दिया और इहलोक में व्रत करके अपनी जीवन लीला को समाप्त कर दिया। वज्रस्वामी तब 500 शिष्यों के साथ भ्रमण करते हुए धर्म का उपदेश देने लगे। वे जहाँ भी जाते, सभी उनकी प्रसंशा करते।

10 वें पूर्व के पिछले भाग का ज्ञान कैसे खोया ?

एक व्यक्ति था जिसका नाम आर्यरक्षित था। वह राजा औद्रायण की राजधानी दशपुर में रहता था। वह बड़े आचार्य के पास दृष्टिवाद की शिक्षा लेने गया। आचार्य ने उसे पहिले दीक्षा लेने को कहा। आर्यरक्षित तुरन्त ही साधु बनने को तैयार था परन्तु उसने दूसरे साधुओं को अपना निवास परिवर्तित करने हेतु प्रेरित किया क्योंकि उसे डर था कि राजा और अन्य लोग उसे धर्म संगठन को छुड़वाने का प्रयास करेंगे। (यह पहिला मामला है जिसमें जैनों ने अन्य धर्मावलंबियों के शिष्यों को प्रलोभन देने का अपराध किया हो।) आर्यरक्षित एक पवित्र साधु बन गया और उसने आचार्य से सारा ही ज्ञान प्राप्त कर लिया। परन्तु जब उनको यह ज्ञात हुआ कि पुरी में वज्र दृष्टिवाद के बारे में उनके गुरु से ज्यादा जानते हैं, तब वे वज्र के पास ही चले गये।

आर्यरक्षित ने अपना अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में नौ पूर्वों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। जब वह दसवें पूर्व के यमकों का अध्ययन कर रहा था तब उसके अध्ययन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। उसके माता-पिता से एक पत्र आया कि वह घर लौट आये। पहिले तो वज्र ने दसों पूर्वों का अध्ययन समाप्त होने से पूर्व जाने की अनुमति देने में हिचकिचाहट दिखलाई परन्तु बाद में जब ऐसे ही अन्य पत्र आर्यरक्षित के पास घर लौटने के अनुनय के साथ आये तो "वज्र ने उसे घर जाने की अनुमति दे दी, क्योंकि उसे इस बात का अनुमान हो गया था कि वह शीघ्र ही मृत्यु प्राप्त करने वाला है और उसके साथ ही सम्पूर्ण दसवें पूर्व का ज्ञान भी लुप्त हो जायेगा।"

"वज्र के साथ ही पूर्ण दसवें पूर्व का तथा चौथे संहनन का ज्ञान समाप्त हो गया।"

"आज धर्म का जो- जो शाखायें विद्यमान हैं— वे सभी वज्र से निकली हैं।"

इस प्रकार हेमचन्द्र, जैन धर्म के आचार्यों के इतिहास— स्थविरावली का समापन करते हैं। अपने ग्रन्थ के 13 वें अध्याय में वे वज्रसेन— जो कि वज्र का उत्तराधिकारी था—के जीवन की एक दो घटनाओं का उल्लेख करते हैं— परन्तु ये जैन धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण नहीं है। आर्यरक्षित जिसे वज्र ने पूर्वों का अध्ययन करवाया था— कभी भी धर्माध्यक्ष नहीं बना। परन्तु उसका शिष्य गोष्ठामाहिल —वह व्यक्ति था—जिसने जैन संघ का सातवाँ विभाजन 548 संवत में प्रारम्भ किया।

हेमचंद्र के विवरण से लगता है कि साधारणतया एक ही व्यक्ति संघ के सर्वोच्च पद पर रहता था और वह ऐसा होता था जिसे संपूर्ण धर्म ग्रन्थों का पूरा-पूरा ज्ञान होता था। उस समय तक धर्म साहित्य का कोई लिखित रेकार्ड नहीं था और हर बात को स्मृति से याद रखना पड़ता था। किसी भी समय में ऐसे स्मृतिवान लोगों का अभाव रहता है और जैनों को उन सीमित लोगों में इस प्रकार के लोगों को ढूँढ़ना पड़ता था जो जैन साधुओं के कठिन नियमों का पालन कर सकते हों। केवल दो बार ऐसा हुआ कि दो धर्माध्यक्ष एक साथ रहे। दूसरा अवसर उज्जयनी में राजा संप्रति के शासन काल में आया। उस समय महागिरि और सुहस्तिन दोनों ही संघ के धर्माध्यक्ष थे। दोनों में से महागिरी पुरातन पंथी थे। वे चाहते थे कि जैन साधु धर्म नियमों का कठोरता से पालन करें। चूँकि वे ऐसा अनुशासन लागू नहीं कर सके, वे चले गये और अनशन करके स्वर्गवामी हुए ।

साधारणतया जैन संघ का मुख्यालय सबसे शक्तिशाली राजा की राजधानी में हुआ करता था। जब उदयन ने नई राजधानी पाटलीपुत्र में बनाई, धर्म संघ का मुख्यालय भी यहीं आ गया था। नन्दों के सम्पूर्ण काल और तीन प्रथम मौर्यों के समय में यह मुख्यालय वहीं रहा। जब चौथे मौर्य सम्राट संप्रति (अशोक का एक पौत्र) ने अपनी राजधानी उज्जयनी को बनाया, जैन धर्म का मुख्यालय भी वहीं चला गया।

जैसा कि पहिले अंकित किया गया है हेमचन्द्र सुहस्तिन और वज्र के बीच के चार धर्माध्यक्षों के बारे में मौन है। इन चारों आचार्यों के नाम कल्पसूत्र की पट्टावली में दिये हुए हैं। एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि क्या कल्पसूत्र की सूची भी पूर्ण है, क्योंकि इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सुहस्तिन और वज्र के बीच में चार से अधिक धर्माध्यक्ष हुए हों। जेकोबी निम्न आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है:

हेमचन्द्र लिखते हैं कि भद्रबाहु भगवान महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष बाद (170 वीर निर्वाण वर्ष) स्वर्गवासी हुए थे। भद्रबाहु छठे अध्यक्ष थे जिससे उनके समय तक औसत पर प्रत्येक धर्माध्यक्ष के 30 वर्ष से भी कम हिस्से में आते हैं।

दूसरी तरफ यदि हम छठे विभाजन का समय 544 वीर निर्वाण वर्ष मान लें तब विभाजनकर्ता के जीवन काल और भद्रबाहु की मृत्यु के बीच 374 वर्ष का फर्क है। आठवें धर्माध्यक्ष सुहस्तिन का रोहगुप्त प्रशिष्य था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह दसवीं पीढ़ी का था। इस प्रकार 374 वर्षों के अन्तराल में केवल चार धर्माध्यक्ष हुए। तात्पर्य यह है कि 94 वर्षों में एक धर्माध्यक्ष। जेकोबी के अनुसार यह अवधि बड़ी बेतुकी है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि छठी विभक्ति का समय 544 वीर निर्वाण वर्ष क्या सही है ? इस प्रश्न का भी जेकोबी ने परीक्षण किया है। जैन संघ की प्रथम सात विभक्तियाँ "आवश्यक निर्युक्ति" में दी गई है परन्तु आठवीं विभक्ति का उल्लेख

इसमें नहीं है। (श्वेताम्बर-दिगम्बर विभक्ति) जो 609 वीर निर्वाण संवत् में होना बतलाया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह निर्युक्ति 7वीं (548 वीर निर्वाण संवत्) और आठवीं (609 वीर निर्वाण संवत्) के बीच लिखी गई थी अथवा यों कह सकते हैं कि छठी विभक्ति के (544 वी.नि.संवत्) के 50-60 वर्ष बाद। इसलिये यह कहा जा सकता है कि विभक्ति का समय उस वक्त तक भूले जाने की संभावना नहीं थी। यदि हम जाँच, विभक्तियों की मानी हुई तिथियों पर आधारित करें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संघचार्यों (थेराओं) की सूची अधूरी ही हमें प्राप्त हुई है। थेरावली में जितने थेरा है उनसे कई अधिक थेरा होने चाहिए।

"दूसरे शब्दों में थेरावली धर्माध्यक्षों की क्रमवार सूची नहीं देती जिसमें गुरु-शिष्यों की परम्परा लगातार हो। परन्तु केवल असम्बद्ध सूची देती है जिसमें केवल वे ही नाम हैं जो मौखिक और साहित्यिक परम्परा की स्मृति में बचे रह गए— जबकि दूसरे नाम पूर्णतया खो गये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हेमचंद्र ने स्थविरावली रहस्यात्मक ढँग से समाप्त कर दी। "वज्र से धर्म की वे सभी शाखाएँ निकली हैं जो आज विद्यमान हैं।"

ये विभक्तियाँ क्या-क्या हैं, कहीं भी वर्णित नहीं हैं। इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि वज्र ने चैत्यवास (साधुओं का मंदिरों में निवास) को मान्यता दी थी— जिसके कारण श्वेताम्बरों में बाद में शिथिलाचार फैला। सोनभद्र (राजगृह—बिहार) में गुफा में एक शिलालेख पहली सदी का मिलता है जिसमें उल्लेख है कि आचार्य वैर (वज्र) ने साधुओं के रहने के लिए दो गुफाएँ खुदवाईं जिनमें पूजा के लिए जैन मूर्तियाँ स्थापित की गईं।

अध्याय-6

जैन धर्म का प्रसार–प्रारंभिक काल

शिलालेखों का साक्ष्य

पूर्व भारत—बंगाल

पहिले हम बंगाल पर विचार करें, इसलिये नहीं कि यह जैन धर्म का कोई महत्त्वपूर्ण केन्द्र है परन्तु इसलिये कि देश के इस भाग में जैन धर्म की उन्नति और अवनति का इतिहास ढूंढ़ना आसान है। हमने देखा है कि महावीर स्वयं केवल-ज्ञान से पूर्व, लाढ (पश्चिमी बंगाल) गये थे और वहाँ के लोगों ने उनके साथ असभ्य व्यवहार किया था। हो सकता है कि महावीर के समय में उस क्षेत्र के लोगों की सभ्यता का स्तर इतना ऊँचा न हो।

केवल दो शताब्दियों बाद ही वहाँ की परिस्थितियों में नाटकीय परिवर्तन आ गया लगता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में, मगध में जैन धर्म का अध्यक्ष भद्रबाहु था। भद्रबाहु के एक शिष्य गोदास ने एक गोदासगण का निर्माण किया था। कल्पसूत्र के अनुसार गोदासगण चार शाखाओं में विभक्त किया गया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन चार शाखाओं में से तीन के नाम पुराने बंगाल के तीन महत्त्वपूर्ण नगरों के नामों पर रखे गये हैं। ये शाखायें थीं, ताम्रलिप्तिका (दक्षिणी बंगाल के ताम्रलिप्त के पीछे), कोटिवर्षीय (उत्तरी बंगाल के कोटि वर्ष के पीछे) तथा पुण्डरवर्धनीय (उत्तरी बंगाल के पुण्डरवर्धन के पीछे)। ऐसा लगता है कि उस समय जैन धर्म का केन्द्र पश्चिमी बंगाल की तरफ खिसक गया होगा अन्यथा शाखाओं के नाम बंगाल के शहरों के नाम पर नहीं होते।

कुछ शाखायें, गण, कुल जिनका उल्लेख कल्पसूत्र में आया है, मथुरा के पास पाये गये शिलालेखों में भी आया है। ये शिलालेख ईसवी संवत् की प्रथम कुछ सदियों के है। इससे यह सिद्ध होता है कि कल्पसूत्र में अंकित शाखाओं आदि का वास्तव में कोई अस्तित्व था। इससे यह भी लगता है कि बंगाल के नगरों के नामों की शाखायें वास्तव में थी, केवल बाद के समय की कल्पना मात्र नहीं थीं।

बंगाल में जैन धर्म के अस्तित्व का प्रथम शिलालेखीय साक्ष्य बंगाल के राजशाही जिले में पहाड़पुर में मिला ताम्रपत्र का लेख है। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् 159 (ईसवी संवत् 479) है। इसमें निगण्ठ गुहानन्दी के शिष्यों द्वारा स्थापित किये हुए विहार के अस्तित्व का उल्लेख है। ह्वेन-सांग जो भारत में ईसवी संवत् 629 से 645

तक रहा, ने बंगाल की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि पुण्ड्रवर्धन के गैर बुद्धों में दिगम्बर निगण्ठों का बाहुल्य है।

जैन धर्म का यह प्रबल प्रभाव इस समय के तुरन्त बाद ही कम पड़ गया लगता है क्योंकि बंगाल के पाल और सेन राजाओं के समय की ताम्र पत्रिकाओं के लेखों में जैन धर्म का कहीं नाम भी नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि नौवीं सदी से पहिले के समय की किसी भी देवता की मूर्ति बंगाल में नहीं पाई गई। उस समय तक बंगाल में जैन धर्म पूर्णतया लुप्त हो चुका था और इसीलिये इस क्षेत्र में बहुत कम जैन प्रस्तर मूर्तियाँ पाई गई हैं। बंगाल में जो भी जैन प्रस्तर मूर्तियाँ पाई गई हैं उनमें से निम्न उल्लेखनीय हैं :

1. एक ऋषभ नाथ की मूर्ति दिनाजपुर जिले में पाई गई है। यह मूर्ति संभवतः पूर्वी पाल-काल में बनाई गई थी— बंगाल में पाई गई सभी मूर्तियों में सुन्दरतम है। ऋषभनाथ इसमें बैठी हुई स्थिति अर्थात् ध्यान मुद्रा में दिखलाये गये हैं।

2. दूसरी मूर्ति भी ऋषभनाथ की ही मिदनापुर जिले में बड़ाभूम गाँव में पाई गई है। यह मूर्ति खड़ी अवस्था अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं।

3. बाँकुडा जिले में देवलभीर गाँव में पार्श्वनाथ की ध्यान मुद्रा की एक मूर्ति पाई गई है।

4. चौबीस परगना जिले में कट्टा बेनियाँ गांव में पार्श्वनाथ की एक मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा की पाई गई है।

5. वर्धमान जिले के ठजानी गाँव में शांतिनाथ की मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में पाई गई है।

ये सारी मूर्तियाँ निश्चित तौर पर पहिचान ली गई हैं कि ये जैन तीर्थंकरों की ही हैं। क्षिति मोहन सेन का विचार है कि पश्चिमी बंगाल में और भी कई जैन मूर्तियाँ होनी चाहिए, इन मूर्तियों ने अपने पहिचान चिन्ह खो दिये हैं। उनका जैन सम्बन्ध भुला दिया गया है और गाँवों में इनकी पूजा भैरवों की तरह होती है।

सेन कुछ बंगाली शब्दों की उत्पत्ति जैनों से मानते हैं। उदाहरणार्थ जैन साधुओं का उत्तरीय पछेरी कहलाता है। बंगाली में यही शब्द "पाछेरी" हो गया है। उसी प्रकार जैन साधुओं द्वारा प्रयोग की जाने वाली झाड़ू "पीछी" कहलाती है। पूर्वी बंगाल में भी झाड़ू को "पीछा" कहते हैं। जो भी हो यह मानना पड़ेगा कि आज से 1500 वर्ष पूर्व जो धर्म बंगाल में काफी सशक्त था, आज इस क्षेत्र में बिलकुल समाप्त हो गया है, स्थानीय आबादी में कुछ निशान छोड़ते हुए।

बिहार

हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्वम् पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा से तीसरी सदी पूर्व जबसे अशोक के पौत्र सम्प्रति ने उज्जयनी को शासन का केन्द्र बनाया, जैन धर्म बिहार में बिल्कुल समाप्त हो गया था। परन्तु यह सच नहीं है। बिहार में जैन रहे और वे दक्षिण बिहार में अपने मंदिर और मूर्तियाँ बनवाने का कार्य कई सदियों तक करते रहे। कई जैन मूर्तियाँ बिहार में, विशेषकर मानभूम जिले में पाई गई है। "मानभूम जिले में पुराने जैन अवशेषों में, ग्राम पकबीरा जो बड़ाबाजार के उत्तर पूर्व में 32 किलोमीटर और पुरुलिया रांची रोड से 50 कि.मी. दूर है, में पाये गये मंदिरों और मूर्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है। पिछली शताब्दी में उन्होंने पुरातत्व विभाग का ध्यान आकर्षित किया था। आर्कियलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की रिपोर्ट वोल्यूम 8 में पकबीरा के अवशेषों के बारे में उल्लेख निम्न प्रकार है—"यहां अनेक मंदिर और मूर्तियाँ है, मुख्यतया जैन, खास खास मूर्तियाँ एक लम्बे शेड में एकत्रित हैं जो एक बड़े मंदिर स्थल पर बनाया गया है जिसकी नींवें आज भी मौजूद है। इन मूर्तियों में सबसे बड़ा आकर्षण एक बड़ी नग्न मूर्ति है जिसकी चौकी पर कमल का चिन्ह है और जो 2.25 मीटर उँची है।"

ऐसा अनुमान है कि बिहार में जैन धर्म 12वीं सदी तक काफी सक्रिय था। चूँकि अधिकतर मूर्तियाँ जो यहाँ पाई गई हैं नग्न हैं , इससे यह अनुमान लगाना संभव है कि अधिकांश जैन दिगम्बर थे। चूँकि उन्होंने कोई साहित्य पीछे नहीं छोड़ा है हम यह सोच सकते हैं कि वे सामान्य लोग थे जिनमें बौद्धिकता का दिखावा नहीं था। जाति काफी धनवान रही होगी अन्यथा वे इतनी सारी मूर्तियों का निर्माण नहीं कर पाते।

ओडिसा

यह कहना कठिन है कि क्या जैन धर्म कभी भी ओडिसा में शक्तिशाली रहा है ? पूर्वकाल से हमारे पास जो साक्ष्य उपलब्ध हैं वे भुवनेश्वर के पास उदयगिरी की गुफाओं में पाये गये शिलालेख ही हैं। इनमें से एक हाथी गुम्फा में पाया गया राजा खारवेल का है दूसरा उसकी पटरानी (अग्रमहिषी) का मंछापुरी गुफा में है। श्री डी.सी.सरकार ने पुरालेख शास्त्र की साक्ष्य के आधार पर इन शिलालेखों का काल ईसा पूर्व प्रथम सदी बतलाया है।रानी का शिलालेख छोटा है जिसमें गुफा को जैन श्रमणों के प्रयोग के लिए अर्पित किया गया है। उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह जैन धर्म का आदर करती थी।

राजा खारवेल के हाथी गुम्फा शिलालेखों पर कई प्रसिद्ध इतिहासकारों ने विद्वतापूर्ण टिप्पणियाँ की हैं। इस लेख में विशेष रुचि के कारणों में एक यह भी है कि यह काफी लम्बा है और कई ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं का विस्तृत विवरण देता है। यहाँ केवल इस शिलालेख के उन्हीं अंशों पर विचार किया जावेगा जो जैन धर्म से सम्बन्धित हैं।

यह शिलालेख "नमो अरिहंतम, नमो सव्व सिद्धाणं" की प्रार्थना से प्रारंभ होता है। यह प्रार्थना की जैन विधि है और इससे ऐसा लगता है कि या तो खारवेल जैन था या उसकी इस धर्म के प्रति गहरी आस्था थी। अपने शासन के बारहवें वर्ष में खारवेल, कलिंग जिन की मूर्ति को ओडिसा वापस लौटा लाया। मगध के नन्दराजा इसे छीन ले गये थे।

खारवेल का यह कृत्य या तो धार्मिक था अथवा यह उसकी इज्जत का प्रश्न था। इसके शासन के तेरहवें वर्ष में, कुमारी पर्वत पर अरिहन्त के अवशेषों के भंडार के परिसर में वो एक मंदिर बनवाने का उल्लेख करता है।

हाथी गुम्फा के शिलालेखों में उपर्युक्त संदर्भों के अलावा जैन धर्म के बारे में कुछ नहीं है।

उस समय के इन दो शिलालेखों — एक खारवेल का और दूसरा उसकी रानी का —के अलावा हम ओडिसा में जैन धर्म के बारे में कुछ नहीं जानते। शुब्रिंग खारवेल के इस शिलालेख को जैन धर्म के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं मानता । वह कहता है "यह सच है कि यह जीर्ण-शीर्ण शिलालेख जैन विधि की प्रार्थना से प्रारंभ होता है परन्तु विद्वान इससे जिन वास्तविक कार्यों के बारे में अनुमान लगा रहे थे—वे या तो मानने योग्य नहीं हैं अथवा वे अभी तक अस्पष्ट ही रह गये हैं। हम यह मान सकते हैं कि खारवेल के राज्य में जैन जातियाँ विकासोन्मुखी थीं। शुब्रिंग के इस दृष्टिकोण से सहमति हो सकती है यदि खारवेल, जो कि अपने आपको कलिंग का एक महत्त्वपूर्ण राजा मानता था, जैन होता तो पुराने जैन साहित्य में उसका नाम अवश्य होता। परन्तु जैन साहित्य में तो खारवेल का अस्तित्व ही नहीं है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात हाथी गुम्फा अवशेषों के बारे में यह है कि "खारवेल के शिलालेखों के अलावा इनको जैन गुफायें कहना भी कठिन है क्योंकि इनकी सजावट में जैन लक्षण नहीं हैं। जो देवी—देवता बतलाये गये हैं वे हिन्दू है जैसे सूर्य, गज लक्ष्मी (पद्मश्री) आदि। रानी गुफा में जो चित्र बनाये गये हैं उन्हें कुछ लोगों द्वारा पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाओं से जोड़ा जाता है जबकि कुछ अन्य उन्हें वासवदत्ता और शकुन्तला की प्रसिद्ध कथाओं से जोड़ते हैं तथा यह भी सोचा जाता है कि यह स्थान कभी नाट्यशाला रही होगी।"

संक्षिप्त में, हम जानते हैं कि खारवेल की महामहिषी जैनों की संरक्षिका थी तथा खारवेल स्वयं जैन धर्म के प्रति मैत्रीभाव रखता था। इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ग्यारहवीं सदी में खण्डगिरी समूह की गुफाओं में से कुछ गुफायें विशेषकर गुफा नं. 11 जैनों द्वारा पवित्र स्थान मानकर काम में ली जाती थी. . . . ."कुछ पुराने कक्षों को, तीर्थंकर और शासन देवियों की मूर्तियाँ उनकी दीवारों में ठकेरी जाकर, सुरक्षित स्थानों में बदल दिया गया था।" विभिन्न तीर्थंकरों की बड़ी संख्या में क्लोराईट की नग्न मूर्तियों का उस समय का भण्डार प्राप्त हुआ है। "गंगा" और उनके उत्तराधिकारी "गजपति" के

शासन काल में दिगम्बरों का इन गुफाओं से लम्बा सम्बन्ध रहा है— यह इस बात से सिद्ध होता है कि गुफाओं की दीवारों पर तीर्थंकरों की मूर्तियों को उकेरा गया है। ये गुफायें 15वीं सदी से पूर्व की नहीं हैं भले ही बाद की हों। इन कक्षों में साधुओं की जमात रहती थी इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

16वीं शताब्दी के बाद लगता है ओडिसा से जैन प्रभाव समाप्त हो गया।

इस प्रकार हम जानते हैं कि ओडिसा में जैन धर्म, ईसा पूर्व प्रथम सदी से 16वीं सदी तक अर्थात् 1700 वर्षों तक रहा। इस अवधि के अधिकांश भाग में ये गुफायें धार्मिक केन्द्रों की तरह प्रयोग में ली जाती रहीं— या तो साधुओं के निवास के लिये या फिर मंदिर के रूप में। परन्तु हम नहीं जानते कि इनका यह उपयोग लगातार रहा अथवा नहीं।" ग्यारहवीं सदी में नग्न मूर्तियों का होना इस बात का निश्चित प्रमाण है कि जैन धर्म के बाद के दिनों में ये गुफायें दिगम्बरों की थीं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रसार : पूर्व-काल

हमें नहीं ज्ञात कि जैन धर्म दक्षिण में किस प्रकार गया। परम्परा से श्रवण बेलगोल जो दक्षिण पूर्व कर्नाटक में है, को दक्षिण भारत में सबसे पहिला जैन केन्द्र माना जाता है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए दुर्भाग्यवश कोई लिखित प्रमाण नहीं है। इस स्थान पर पाया गया सबसे पुराना शिलालेख 600 ईसवी के करीब का है, यद्यपि इसी स्थान के आसपास के क्षेत्रों में कुछ इससे पुराने शिलालेख भी पाये गये हैं। इनमें से एक ताम्रपत्र मरकारा (कुर्ग) में पाया गया है जो 466-67 ईसवी का है और उसमें तालव नगर के श्री विजय जैन मंदिर को बाडने गुफे गाँव दान करने का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस क्षेत्र में 5वीं सदी में जैन अच्छी प्रकार जम गये थे परन्तु श्रवण बेलगोल ही दक्षिण भारत में उनका प्रथम केन्द्र नहीं होगा।

ईसवी 600 का श्रवण बेलगोल का शिलालेख जैन धर्म के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में से एक है। इस लेख का आशय निम्न प्रकार है:

"महावीर के बाद शिष्यों की परम्परा में गौतम, लोहाचार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाखा, प्रोस्थिला, कीर्तीकार्य (?) जय, सिद्धार्थ, धृतिष्टिसेन आदि थे। भद्रबाहु जो इसी सूची में सम्मिलित हैं, को त्रिकालदर्शी होने से उज्जयनी में पड़ने वाले बारह वर्ष के अकाल का ज्ञान हो गया। तब सारा का सारा संघ दक्षिणापथ में चला गया। वे एक सम्पन्नता युक्त क्षेत्र में पहुँचे। आचार्य प्रभाचन्द्र को जब यह आभास हो गया कि उनका अन्त करीब है, वे अपने एक शिष्य के साथ कटवापरा पहाड़ी पर रुक गये और बाकी संघ को आगे बढ़ने को कहा। प्रभाचन्द्र ने तब समाधि आराधना प्रारंभ की।"

इससे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्र वे व्यक्ति थे जिसने दक्षिण भारत में जाने वाले पहले जैन संघ का नेतृत्व किया था और जो संघ गया था वह उज्जयनी से चला था।

बाद के दिगम्बर ग्रन्थों में यह कथा परिवर्तित कर दी गई। भद्रबाहु— कथा (ईसवी 800 करीब) तथा वृहत कथा कोष (ईसवी 931) में कहा गया है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भद्रबाहु ने अपने अनुयायियों को पुन्नता (दक्षिण कर्नाटक) जाने के निर्देश दिये जबकि रत्ननन्दिन के भद्रबाहु चरित (16वीं सदी का उत्तरार्द्ध) में कहा गया है कि भद्रबाहु स्वयं ने नेतृत्व किया और राह में ही मृत्यु को प्राप्त गये। चूँकि दिगम्बर विश्वास करते हैं कि दो भद्रबाहु थे— पहिले की मृत्यु महावीर के निर्वाण के 162 वर्ष बाद हुई (ईसा पूर्व 365) और दूसरे की निर्वाण के 575 वर्ष बाद (ईसा पूर्व 12 वर्ष) इससे यह स्पष्ट नहीं है कि ये बाद के लेखक किस भद्रबाहु की बात कर रहे हैं।

हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्वम् में श्वेताम्बर परम्परा जिस प्रकार अंकित है वह बिल्कुल भिन्न है। उसके अनुसार जब मगध क्षेत्र में भयंकर सूखा पड़ा था, संघ समुद्र तट की ओर चला गया था और अकाल की समाप्ति पर वापस मगध लौट आया था। भद्रबाहु संघ के साथ समुद्रतट की ओर नहीं गये थे परन्तु वे नेपाल चले गये थे जहाँ उन्होंने महाप्राण व्रत लिया था। तपस्या पूर्ण होने पर वे मगध लौट आये थे और संघ में सम्मिलित हो गये थे।

हेमचंद्र के अनुसार अशोक के उत्तराधिकारी संप्रति ने दक्षिण भारत (आन्द्रा एवं द्रमिलजि) में जैन धर्म के प्रचार के लिए भूमिका तैयार की । उस समय उज्जयनी सम्प्रति की राजधानी थी। हेमचन्द्र का कथन बाद की दिगम्बर परम्परा के कथानक से ज्यादा सही प्रतीत होता है।

उपलब्ध शिलालेखों की साक्ष्य से ऐसा ज्ञात होता है कि दक्षिण में जैन धर्म का प्रवेश पश्चिम की ओर से हुआ। हलसी जो पुराने समय में बेलगाम जिले में पलासिका के नाम से जाना जाता था- पाँचवीं सदी में दक्षिण भारत में सबसे महत्वपूर्ण जैन केन्द्र था। पलासिका के कदम्ब राजा, उस समय जैन धर्म के संरक्षक थे। वे स्वयं तो ब्राह्मण थे पर उनमें से कुछ ने जैनों को भूमि दान में दी और जैन मंदिरों का निर्माण करवाया। इससे भी इस दृष्टिकोण को बल मिलता है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रवेश पश्चिम से हुआ और शायद उज्जयनी से ही।

दूसरा दक्षिण का महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र कोल्हापुर जिले का अलतेम था। वहाँ पर शक संवत् 411 (489 ईसवी) का एक शिलालेख है जिसमें चालुक्यों के एक जमींदार द्वारा जैन मंदिर बनवाने का उल्लेख है, उसका नाम "समियार" है।

तामिलनाडू—तामिलनाडू में पूर्व काल में जैन धर्म के पाये जाने का कोई पक्का साक्ष्य नहीं मिलता। मदुरा और तिन्नवेल्ली जिलों में पुदक्कोराई क्षेत्र की पहाड़ियों में बहुत सारी कन्दराएँ पाई गई हैं पिछले दो क्षेत्र, पुरातत्व के मामले में काफी सम्पन्न हैं और मदुरा जिला इस प्रकार के कई स्मारकों के लिए प्रसिद्ध है। इन कन्दराओं में

साधारणतया शिलालेख होते हैं। ये लेख ब्राह्मी लिपि में ईसा से 3 सदी पूर्व के है। ये पुरातत्व की वस्तुएँ और लेख जैनों के बतलाये जाते हैं।

यह बात कि ये गुफायें शायद जैनियों की हों, श्री के.बी. सुब्रह्मण्यम अय्यर ने कुछ दशकों पूर्व बतलाई थी। उस समय इन शिलालेखों को पढ़ा नहीं जा सका था। सन् 1966 में आई महादेवन बहुत सारे शिलालेख पढ़ने में सफल हो गये जिनकी संख्या 75 थी। ये शिलालेख बतलाते हैं कि ये गुफायें राजाओं और उनके सेवकों द्वारा धार्मिक लोगों को भेट की गई थीं। उन लोगों का धर्म क्या था तथा किनको ये गुफायें भेंट की गई थी। स्पष्ट नहीं है। कुछ शब्द जो प्रयोग में लाये गये हैं वे हैं "असिरियान" "प्राचार्य" "उपासकम" 'पल्ली' (अहिन्दू मंदिर) आदि। एक स्थान पुकालूर में शब्द "अम्मानम" (नग्न) का प्रयोग भी पाया गया है। इ. कुछ शब्दों के आधार पर ही संभवत. यह कहना सही नही होगा कि ये गुफायें जैन साधुओं को भेंट की गई थीं। यह तो स्पष्ट है कि दानदाता धार्मिक लोग थे, परन्तु गुफायें किसी भी अवैदिक (Un-orthodax) सम्प्रदाय जैसे बौद्ध जैन या आजीवक की हो सकती है। "नग्न" वास्तव में आजीवक साधु भी हो सकते हैं क्योंकि जैसा कि हम जानते हैं कि उनके नियमों के अनुसार साधु को नग्न ही रहना पड़ता था। इस प्रकार ये गुफायें आजीवकों को समर्पित की हुई हो सकती हैं।

जैन धर्म बाद की सदियों में तामिलनाडू में एक महत्त्वपूर्ण धर्म हो गया था और इसने तामिल साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला।

आन्ध्र –ईसा की पहली कुछ सदियों में आन्ध्र में जैन धर्म के होने के कोई भी संकेत नही मिलते।

उत्तर एवं पश्चिमी भारत—उत्तरी भारत में निगंठ सम्प्रदाय के अस्तित्व की साक्ष्य, अशोक का एकमात्र शिलालेख (ईसा पूर्व तीसरी सदी) है। यह अशोक का सातवाँ स्तभ शिलालेख है और दिल्ली के फिरोज शाह कोटला में स्थित है। पहिले यह स्तंभ हरियाणा के अम्बाला जिले के टोपरा में था और फिरोज शाह तुगलक द्वारा दिल्ली लाया गया था। इस शिलालेख में अशोक ने लिखा है कि उसने विभिन्न संप्रदायों के लोगों के धार्मिक कृत्यों की देखरेख के लिए वरिष्ठ अधिकारियों को नियुक्त किया था। इन अधिकारियों को निर्देशित किया गया था कि वे संघ (बौद्धों) के ब्राह्मणों, आजीविकों तथा निगन्ठों के मामले के बारे में कार्य करें। अशोक के अन्य शिलालेखो में संघ, ब्राह्मण, आजीविकों के उल्लेख तो हैं परन्तु निगण्ठ का उल्लेख नहीं है। चूँकि अधिकारियों को निगण्ठों की देखरेख करने हेतु निर्देशित किया गया था, इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय के लोग इस क्षेत्र में यथेष्ठ संख्या में होंगे। अन्यथा इस संप्रदाय के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं होती। यद्यपि हमारे पास कोई भी जैन रिकार्ड यह सिद्ध करने के लिये नही है कि यह जाति उस समय हरियाणा में अस्तित्व में थी और महावीर

श्रावस्ती, जो कि पूर्वी उत्तरप्रदेश में है, से पश्चिम में संभवतः कभी नहीं गये थे, परन्तु शिलालेख की साक्ष्य बहुत स्पष्ट है। अशोक के समय तक जैन धर्म उत्तर भारत में कम से कम हरियाणा तक फैल गया था।

कल्पसूत्र में दिये गये आचार्यों की पट्टावली से लगता है कि अशोक से 100 वर्षों के भीतर-भीतर ही जैन धर्म पश्चिम में पठानकोट तक पहुँच गया था। अशोक के पौत्र सम्प्रति के समय में जैनों के धर्माचार्य सुहस्तिन थे। सुहस्तिन के शिष्य रोहण जो अगले आचार्य बने ने उद्देह- गण की स्थापना की, जो चार शाखाओं में विभक्त हुआ। इन शाखाओं में से एक उदम्बरिका थी। उदम्बरा का देश, वर्तमान में गुरुदासपुर जिला है और इसकी राजधानी थी प्रतिष्ठान (पठानकोट)। इस प्रकार हम जानते हैं कि ईसा पूर्व दूसरी सदी में पठानकोट क्षेत्र में जैनों का काफी बड़ा समूह था।

उज्जयिनी

जैनों के बारे में सूचना के विषय में अगली दो सदियाँ बिल्कुल अन्धकारमय हैं। उस समय के न तो कोई साहित्यिक ग्रन्थ हैं और न शिलालेख ही। बाद के जैन इतिहासकारों का कहना है कि अशोक के पौत्र सम्प्रति के समय में ही जैन धर्म उज्जयिनी तक फैल गया था। हेमचन्द्र (12 वीं सदी) लिखते हैं कि जैन संघ के अध्यक्ष सुहस्तिन उस समय उज्जयिनी में रहते थे जबकि संप्रति अपनी उसी राजधानी से राज्य चलाया करता था। संप्रति जैनों का संरक्षक था। हो सकता है कि यह बात सच हो परन्तु इस बात का कोई शिलालेख या स्वतंत्र प्रमाण नहीं है जिसमें संप्रति की जैन धर्म के प्रति आस्था प्रकट होती हो।

उज्जयिनी एक महत्वपूर्ण घटना, जो कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में घटित हुई, का केन्द्र बिन्दु था। यह कथा शकों द्वारा उज्जयिनी विजय तथा विक्रम संवत् के प्रारम्भ से सम्बन्धित है।

उस पौराणिक कथा में उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल् का उल्लेख है। उसने एक जाने माने जैन गुरु कालकाचार्य की बहिन का अपहरण किया था। (कालका एक राजा का पुत्र था और बाद में जैन हो गया था। उसकी बहिन जिसका नाम सरस्वती था, स्वयं एक जैन भिक्षुणी थी।) कालकाचार्य सिथियन शाही राजाओं में से एक जो शक स्थान में थे, के पास मदद के लिये गये। परन्तु वह राजा गर्दभिल्ल पर आक्रमण करने से डरता था क्योंकि गर्दभिल्ल एक शक्तिशाली शासक था जिसे रसभि नाम की देवी की सुरक्षा प्राप्त थी। ऐसा माना जाता था कि उसकी आवाज के चमत्कार से राजा के चारों ओर 24 कि.मी. की परिधि में किसी शत्रु का प्रवेश असंभव था। कालका को भी जादुई शक्तियाँ प्राप्त थीं और वह अपनी इच्छानुसार धन पैदा कर सकता था। उसने शक राजा को एक सेना तैयार कर उज्जयनी पर हमला करने के लिए उत्साहित किया। जब उज्जयनी से 24 कि.मी. दूर उसकी सेना पड़ाव डाले हुए थी तब देवी ने गर्दभिल्ल की

सुरक्षा के लिए अपनी आवाज उठाना प्रारम्भ किया परन्तु शक सेना ने उसके मुँह को तीरों से सी दिया और उसके मुँह से आवाज निकलना बन्द हो गया। तब गर्दभिल्ल को आसानी से बन्दी बना लिया गया और कालका की बहिन को बन्धन मुक्त करवाया गया। बाद में जब गर्दभिल्ल को क्षमादान दिया गया और छोड़ा गया तो वह जंगल में चला गया जहाँ उसे एक चीते ने अपना ग्रास बना लिया। कुछ वर्षों बाद, गर्दभिल्ल का पुत्र, कुछ लोगों के अनुसार महान् विक्रमादित्य, प्रतिष्ठान से एक सेना लेकर आया और उज्जयनी से उसने आक्रमणकारियों को मार भगाया और फिर कई वर्षों तक बड़ी शान से राज्य करता रहा तथा नया संवत् चलाया जो उसके नाम से जाना जाता है। (ईसा पूर्व 58-57)

यद्यपि इस कथा को सही ऐतिहासिक आधार पर आसानी से प्रमाणित नहीं किया जा सकता परन्तु ईसा पूर्व प्रथम सदी में इस घटना का तालमेल ठीक बैठता है क्योंकि यह स्पष्ट ही वह समय था जब शक भारत में अपना स्थान बना रहे थे तथा भारतीय राजा, विशेषकर शतवाहन, उनका प्रतिरोध करने में लगे हुए थे। हिन्दू पुराण शतवाहनों को आन्ध्र बतलाते हैं और गर्दभिल्ल को आन्ध्रों का भृत्य मानते हैं। इस प्रकार इस जैन कथा की आंशिक रूप से संपुष्टि होती है और कालकाचार्य की कथा में कुछ ऐतिहासिक सत्य हो सकता है।

यह संभव है कि यह पौराणिक कथा किसी न किसी रूप में पहली सदी से ही चली आ रही हो परन्तु लिखित रूप में पहली बार यह महेसर सूरि के ग्रन्थ "कालकाचार्य कथानक" में आई जो संभवतः हेमचन्द्र सूरि (12वीं सदी) के समय में हुए थे। इस प्रकार यह कथानक अथवा कालकाचार्य का इतिहास, कथित घटना के 1200 वर्षों के बाद लिखित रूप में आया।

मथुरा

शकों के उत्तर भारत में आक्रमण के बाद अन्य विदेशी जैसे ग्रीक, कुशाण आदि द्वारा भी आक्रमण किये गये तथा ईसा की सदी के प्रारम्भ से ही कुछ सदियों तक ये आक्रमण जारी रहे। उत्तर भारत की राजनीति का केन्द्र अब मथुरा बन गया था। उस समय मथुरा में एक बडा और सम्पन्न जैन समुदाय था।

इस नगर में कंकाली टीले से बहुत सारे जैन अवशेष खोद कर निकाले गये हैं। इन अवशेषों में एक जैन स्तूप, दो मंदिर और बहुत सारे शिलालेख पाये गये हैं जिनमें तीर्थंकरों की मूर्तियों तथा अन्य धार्मिक वस्तुओं का पवित्र जैनों द्वारा समर्पण अंकित है। इन शिलालेखों में कुछ पर कुषाण काल के वर्षों की तारीख अंकित है। ये तारीखें इस काल के 5वें और 98 वें वर्ष के बीच की है। चूँकि हमें यह ज्ञात नहीं कि यह संवत् कब प्रारम्भ हुआ इसलिये इन मथुरा के अवशेषों का अनुमानित समय तय कर पाना ही संभव है।

विद्वान् कुषाण काल के प्रारम्भ के बारे में भिन्न-भिन्न राय रखते हैं। कुछ का मत है कि यह शक संवत् के समान ही है और यह 78 ईसवी में प्रारम्भ हुआ है। दूसरी तारीखें जो कुषाण काल के प्रारम्भ के बारे में बतलाई जाती हैं वे हैं ईसवी 102, ईसवी 128, ईसवी 144 आदि । श्री आर.सी.मजूमदार ने ईसवी 244 का सुझाव दिया है । उनका यह सुझाव अधिक से अधिक सम्बल पा रहा है। यदि यह सही हो तो मथुरा में संभवतः जैन समुदाय के अस्तित्व का समय ईसवी 250 व ईसवी 350 के बीच बैठता है।

कुषाणों के शासन में मथुरा उत्तर भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण शहर था। मथुरा में कई जातियाँ जैसे बौद्ध, जैन, ब्राह्मण आदि के सम्पन्न लोग थे। मथुरा के कई क्षेत्रों में खुदाई में निकले शिलालेखों से प्रतीत होता है कि कई समुदायों द्वारा धार्मिक स्मारक बनवाये जाते थे और उनको दान दिया जाता था। जहाँ तक कंकाली टीले का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह उस समय केवल मात्र जैनों के लिये ही सुरक्षित रहा होगा। इस समय से कुछ सदियों पूर्व शायद यह टीला बौद्धों के आधिपत्य में था जिन्होंने यहाँ स्तूप बनवाया था। एक जैन शिलालेख में यह स्पष्ट अंकित है कि जैन मूर्ति की स्थापना एक वोडवे (बौद्ध) स्तूप पर की गई थी जो देवताओं द्वारा निर्मित था। यह अनुमान लगाया जाता है कि उस समय यह स्तूप इतना पुराना था कि लोग यह भूल गये थे कि उसका वास्तविक निर्माता कौन है ? इसलिए उन्होंने सोचा कि यह देवताओं द्वारा बनाया गया होगा। कुषाण काल से ही मथुरा में बौद्ध जमालपुर टीले पर चले गये प्रतीत होते हैं।

अब हम कुषाणकाल के मथुरा में प्राप्त जैन शिलालेखों पर विचार करेंगे। कुल मिलाकर 78 शिलालेखों का उल्लेख 'जैन शिलालेख संग्रह— भाग -दो' में दिया गया है। ऐसा लगता है कि इस ग्रंथ का रचयिता कुछ शिलालेखों के बारे में चूक गया है। उदाहरणार्थ हुविष्क का लखनऊ म्यूजियम का जैन मूर्तियों का शिलालेख (वर्ष 48) चूक गया लगता है। जो भी हो, यहाँ पाये गये जैन शिलालेखों की संख्या 90 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

शिलालेखों में अंकित राजा

मथुरा के कुषाणों के अधीन आने से पूर्व यह शक- पहलवा साम्राज्य का एक भाग था। इन सम्राटों के अधीन प्रान्तीय प्रशासक (गवर्नर) महाक्षत्रप कहलाते थे। हमारे पास महाक्षत्रप के बारे में केवल एक ही जैन शिलालेख है—जो मथुरा के माहक्षत्रप सोदास के बारे में है। इस पर वर्ष 72 लिखा हुआ है परन्तु हमें संवत् के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा लगता है कि सोदास के बाद मथुरा कुषाणों के पास आ गया। तीन शिलालेख (19, 24 और 25) कनिष्क के काल के, छः हुविष्क के समय के (37, 39, 43,45, 50 एवं 56) जो कनिष्क के उत्तराधिकारी वसिस्का के बाद बहुत कम समय के

लिए ही राज्य कर पाया और हुविष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के काल के तीन (62, 65 एवं 69) कंकाली टीला ग्रुप के है। इस स्थान से निकले दूसरे शिलालेखों में राजाओं के नाम या तो उल्लेखित नहीं है अथवा पढ़ने में नहीं आते।

तीर्थंकर :

निम्न तीर्थंकरों के नाम अंकित हैं:

1. वर्द्धमान-	11 शिलालेख (5,8,9,19,30,34,36,37,75,79, एवं 84)
2. महावीर-	1 (16) महावीर और वर्द्धमान-1(67)
3. संभव-	एक (हुविष्क का जो लखनऊ म्यूजियम की मूर्ति पर अंकित है वर्ष 48)
4. ऋषभ-	एक (56) उषभ-एक (82)
5. अरिष्टनेमि-	एक (28)
6. शांति नाथ-	एक (29)

उपर्युक्त के अलावा दान से सम्बन्धित, शिलालेख है एक नेमेश का (13) जो नागमेष हो सकता है और एक नंद्यावर्त (59) का जिसका तात्पर्य है 18वें तीर्थंकर अरनाथ, नंद्यावर्त उनका चिह्न है। चार शिलालेख (22, 26, 27 और 41) सर्वतोभद्र मूर्तियों के दान से सम्बन्धित हैं। ये चार दिशाओं वाली मूर्तियाँ हैं। जिनकी प्रत्येक दिशा में एक-एक तीर्थंकर की मूर्ति है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उस समय मथुरा के जैनों में महावीर सबसे अधिक लोकप्रिय तीर्थंकर थे। पार्श्व के नाम का न होना उल्लेखनीय है।

कई दानदाताओं ने अपने व्यवसाय का भी उल्लेख किया है। स्त्री दानदाताओं के मामले में उनके पतियों का व्यवसाय लिखा गया है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अधिकांश दानदाता व्यौपारी थे, यद्यपि उनमें से कुछ दस्तकार भी थे जैसे सुनार, लुहार आदि। व्यवसायों की सूची तथा शिलालेखों का क्रमांक जिसमें उनका उल्लेख है इस प्रकार है—

	धन्धा या व्यवसाय	जैन शिलालेख संग्रह का नंबर
1.	श्रेष्ठि (व्यौपारी)	19, 26
2.	वणिक (व्यौपारी)	71
3.	मणिकार (जौहरी)	31
4.	लोहवणिया (लोहे का व्यौपारी)	31
5.	हिरण्यक (सुनार)	67

6.	सार्थवाह (मार्ग दर्शक)	33
7.	गंधिक (इत्र बेचने वाला)	41, 42, 62, 69
8.	लोहिका कारक (लुहार)	54, 55
9.	गणिका (वैश्या)	8
10.	नर्तक (नाचने वाला)	15
11.	वाचक (पुरोहित)	22
12.	ग्रामिक (गाँव का मुखिया)	44
13.	रुई का व्यापारी	56

इससे हमें यह जानकारी मिलती है कि उन दिनों मथुरा में विभिन्न व्यवसायी लोग रहते थे जो कि किसी भी बड़े प्रांत की राजधानी में सामान्य थे। कम से कम एक वैश्या पत्थर की शिला पर अपना व्यवसाय बतलाने में नहीं झिझकी। उन शिलालेखों से सामाजिक रीति-रिवाजों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। 14 नंबर का शिलालेख मजेदार है। इसमें एक औरत बालहस्तिनी घोषित करती है कि उसने अपने माता-पिता और सास-ससुर के साथ धार्मिक तोरण की स्थापना की है। आज के रीति-रिवाजों के अनुसार सभी धार्मिक कृत्यों के लिए स्त्री का पति परिवार ही मान्य है। इन मामलों में उसके पितृपक्ष का कुछ भी लेना- देना नहीं है। मथुरा में एक विवाहित स्त्री के धार्मिक कृत्यों में उसके माता-पिता का सम्मिलित होना बतलाता है कि संभवत: वे लोग विदेशी रहे होंगे (जैसे शक या कुषाण) जो जैन धर्म में नये-नये दीक्षित हुए होंगे परन्तु अपने पुराने रिवाजों को ही मानते होंगे।

कुछ दानदाताओं के नाम बतलाते हैं कि उन पर विदेशी प्रभाव था। इनमें से कुछ नाम हैं मोसिनी (22), बुबु (52), वाधारा (31) हूग्गू (31), झाभका (35), नाद (8) आदि।

दूसरा शक प्रभाव, कंकाली टीले से प्राप्त भग्न सरस्वती की मूर्ति पर है। देवी के दोनों ओर दो छोटी सेवकों की मूर्तियाँ हैं। इनमें से एक शक वेषभूषा में है।

आज की जैन स्त्रियों द्वारा लम्बे- लम्बे उपवास करने की प्रथा मथुरा में हुविष्क के दिनों में भी थी। शिलालेख नंबर 52 में उल्लेख है कि राज्यवसु की पत्नी विजयाश्री ने एक महीने का उपवास रखा था।

मथुरा में जैन मूर्ति कला का मानकीकरण हो चुका था। तीर्थंकरों की सभी मूर्तियों की छाती पर, श्रीवत्स का चिन्ह है जो पवित्र माना जाता है, अंकित रहता है (और शायद उन्हें बुद्ध मूर्तियों से अलग पहिचानने के लिये भी क्योंकि उनकी मूर्तियों में इस प्रकार का चिह्न नहीं होता।)

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि जिन लोगों ने मूर्तियाँ और दूसरी धार्मिक वस्तुएँ दान में दी थीं, वे श्वेताम्बर थे या दिगम्बर। दानदाताओं ने शिलालेखों में अपने गण, कुल आदि का उल्लेख किया है। इनमें कुछ गण और कुल तो कल्पसूत्र में अंकित गण और कुल के समान ही हैं। कल्पसूत्र एक श्वेताम्बर ग्रन्थ है जिसे दिगम्बर नहीं मानते। उसी प्रकार केवल श्वेताम्बर ही यह मानते हैं कि हरिणगमेषी ने महावीर का भ्रूण त्रिशला माता के गर्भ में स्थानान्तरित किया था। दिगम्बर इस कहानी को पूर्णतया नकारते हैं। मथुरा के एक शिलालेख में 'नमेशा' शब्द आया है जो हरिणगमेषी का ही संक्षिप्त रूप हो तो मथुरा के जैनों को श्वेताम्बर मानना पड़ेगा। इसके विपरीत जितनी भी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कंकाली टीले में पाई गई हैं सभी नग्न है। वास्तव में इन सदियों की सभी जैन मूर्तियाँ, उदाहरणार्थ जो मूर्तियाँ गोरखपुर जिले में काहोम (ईस्वी 640) में पाई गई हैं तीर्थंकरों को नग्न ही बतलाती हैं। इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि उत्तर प्रदेश और बिहार के सभी जैन आज भी दिगम्बर हैं। इस प्रकार कुषाण काल में मथुरा के जैनों की शाखा के बारे में निश्चय होना बड़ा ही कठिन है। यह भी संभव है कि तब तक दिगम्बर-श्वेताम्बरों का भेद स्पष्ट नहीं हुआ था। जो भी हो, यदि श्वेताम्बर अलग भी थे तो भी उन्होंने तीर्थंकरों की आवरणवाली मूर्तियों की पूजा प्रारंभ नहीं की थी क्योंकि पाँचवीं सदी से पूर्व की कोई भी आवरण वाली मूर्ति अभी तक भी प्राप्त नहीं हुई है।

मथुरा काफी लम्बे समय तक जैनों का केन्द्र बना रहा। बहुत सारी जैन मूर्तियाँ गुप्त काल और पूर्व मध्य काल की भी यहाँ पाई गई हैं।

अध्याय- 7

संघ-भेद (विभक्तियाँ)

प्रथम सात विभक्तियाँ

जैन सम्प्रदाय की मुख्य विभक्ति श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के बीच थी। श्वेताम्बरों का विश्वास है कि इस विभक्ति के पूर्व भी सात विभक्तियाँ हो चुकी हैं। ये विभक्तियाँ तब हुईं जबकि संघ के किसी महत्त्वपूर्ण नेता का प्रमुख संघ के दर्शन या कर्मकाण्ड सम्बन्धि किसी बिन्दु पर मतभेद हुआ। ये नेता तब अपने-अपने अनुयायियों को लेकर अलग हो गये और अपना स्वयं का सम्प्रदाय बना लिया। जो भी हो, इन विभक्तियों का स्थायी प्रभाव बहुत ही कम हुआ क्योंकि नये सम्प्रदाय अपने-अपने नेताओं की मृत्यु पर या तो समाप्त हो गये अथवा पुनः मुख्य धारा में जुड़ गये। सातों विभक्तियों का सम्मिलित वर्णन "आवश्यक निर्युक्ति" में (VIII, 56-100) दिया हुआ है। (दिगम्बर इन सातों विभक्तियों के बारे में पूर्णतया अनभिज्ञ हैं।)

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, इन विभक्तियों में प्रथम विभक्ति महावीर के जीवन काल में ही हो गई थी। इसका नेता उनका स्वयं का जामाता जमाली था। महावीर के केवल ज्ञान प्राप्त करने के चौदह वर्ष बाद, जमाली अपने शिष्यों सहित अलग हो गया था। जमाली जिन कारणों से महावीर से अलग हुए वे एक बाहरी व्यक्ति को बहुत ही मामूली नजर आते हैं।

दूसरी विभक्ति राजगृह में तिष्यगुप्त द्वारा प्रारम्भ की गई थी। यह भी महावीर के जीवन काल में जमाली के अलग होने के दो वर्ष बाद ही हो गई थी। तिष्यगुप्त के अनुयायी "जिवापेसिया" कहलाते थे। उन्होंने महावीर के इस दृष्टिकोण का विरोध किया कि आत्मा का प्रवेश शरीर के सभी कणों में है।

तीसरी विभक्ति का नेतृत्व सेयाविया के आसाढ़ ने, महावीर की मृत्यु के 214 वर्ष बाद किया। आसाढ़ के अनुयायी "अवत्तिया" कहलाते थे और उनका मत था कि देवताओं, साधुओं, राजाओं और अन्य जीवों में कोई भेद नहीं है।

महावीर की मृत्यु के 220 वर्षों के बाद असामित्त ने मिहिला में चौथी विभक्ति प्रारम्भ की। असामित्त महागिरी के शिष्य कोडिन्न का शिष्य था। असामित्ता के अनुयायी 'समुच्छिया' कहलाते थे और उनकी मान्यता थी कि चूँकि सभी जीव एक न एक दिन समाप्त हो जायेंगे—इसलिए अच्छे और बुरे कार्य का प्रभाव महत्त्वहीन है।

पाँचवीं विभक्ति, महावीर के निधन के 228 वर्षों बाद कुल्लकटिरिया में गंग द्वारा प्रारम्भ की गई। गंग महागिरी के दूसरे शिष्य धनगुप्त का शिष्य था। उनके शिष्य "डोकिरिया" कहलाते हैं और उनकी मान्यता है कि दो विरोधी संवेदनाओं का जैसे सर्दी और गर्मी का अनुभव एक साथ किया जा सकता है।

छठी विभक्ति महावीर के निर्वाण के 544 वर्षों बाद, सादुल द्वारा जिसका दूसरा नाम रोहगुप्त है— अन्तरंजिया में प्रारम्भ की गई थी। ऐसा कहा जाता है कि सादुल वैशेषिक सूत्रों का रचयिता है। उसके अनुयायी "तेरसिया" कहलाते हैं और उनकी मान्यता है कि जीव और अजीव के बीच एक तीसरी स्थिति "न- जीव" की है। कल्पसूत्र के अनुसार तेरसिया संप्रदाय महागिरी के शिष्य रोहगुप्त द्वारा प्रारम्भ किया गया था।

सातवीं विभक्ति का नेतृत्व महावीर के निर्वाण के 584 वर्ष बाद, दशपुर में गोष्ठामाहिल - द्वारा किया गया था। उसके शिष्य "अबधिया" कहलाते हैं और उनकी मान्यता है कि जीव कर्मों से नहीं बाँधा जा सकता।

इन सातों विभक्तियों का कोई भी अवशेष अब जैन धर्म में नहीं पाया जाता।

आठवी विभक्ति-दिगम्बर और श्वेताम्बर :

जैन जाति दो संप्रदाय— दिगम्बर और श्वेताम्बर में विभक्त है। दोनों सम्प्रदायों के धार्मिक और दार्शनिक विश्वास भी बिल्कुल समान हैं तथा पौराणिक गाथायें भी समान हैं। इन दोनों की पौराणिक कथाओं में उल्लेखनीय अन्तर उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली के लिंग को लेकर है। श्वेताम्बरों का विश्वास है कि मल्ली स्त्री थी जबकि दिगम्बर उसे पुरुष मानते हैं। मल्ली के बारे में यह अन्तर इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि दोनों सम्प्रदायों के विश्वासों में थोड़ा सा फर्क है। दिगम्बर सोचते हैं कि किसी स्त्री के लिये मोक्ष प्राप्त करना संभव नहीं है और चूँकि सभी तीर्थंकर मोक्ष प्राप्त करते हैं अतः उन्नीसवें तीर्थंकर स्त्री नहीं हो सकते। दो संप्रदायों में दूसरा फर्क यह है कि दिगम्बर समझते हैं कि सभी जैन साधुओं को महावीर का उदाहरण मानकर नग्न रहना चाहिए जबकि श्वेताम्बर यह समझते हैं कि महावीर के कुछ ही पीढियों बाद (जम्बू के बाद) धर्माचार्यों ने नग्न रहने की प्रथा जो "जिन कल्प" कहलाती थी—को त्याग दिया था और उन्होंने श्वेत वस्त्र पहिनना प्रारम्भ कर दिया था। यह प्रथा "स्थविरकल्प" कहलाती थी। आज के साधुओं को श्वेताम्बरों के अनुसार, इन महान् आचार्यों (स्थविरों) का अनुकरण करना चाहिए और इनके लिए जिनकल्प की प्रथा मानना आवश्यक नहीं है। तीसरा बिन्दु जिस पर दोनों संप्रदायों में मतभेद है वह है केवली का भोजन। दिगम्बरों के अनुसार केवली को भोजन लेने की आवश्यकता नहीं है जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार उसे भोजन की आवश्यकता रहती है। यह बिन्दु केवल बौद्धिक विवाद का है क्योंकि दोनों ही सम्प्रदाय इस मामले में एकमत हैं कि निकट भविष्य में कोई भी केवली नहीं होगा।

दिगम्बर, श्वेताम्बरों के महावीर स्वामी के बारे में दो विश्वासों को नहीं मानते कि महावीर का भ्रूण ब्राह्मण स्त्री देवानन्दा की कोख से स्थानान्तरित किया गया था तथा यह कि महावीर ने विवाह किया था और उनकी एक पुत्री भी थी। दूसरे छोटे-छोटे अन्तर जो इन दो सम्प्रदायों में हैं, वे बाद में दिये गये हैं।

यह उल्लेखनीय है कि ये और इनके जैसी अन्य भिन्नतायें बहुत ही मामूली किस्म की हैं और धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों पर कोई असर नहीं डालतीं जो दोनों संप्रदायों के लिए वस्तुतः समान हैं। दूसरी ओर उन्हीं भिन्नताओं ने यद्यपि वे कितनी ही लघु क्यों न हो, जैन समुदाय को पृथक्-पृथक् समूहों में इस प्रकार बाँट दिया है कि व्यावहारिक तौर पर न तो धार्मिक न सामाजिक स्तर पर इनका मेल— मिलाप रह गया है। यहाँ तक कि इन दोनों सम्प्रदायों में साधारणतया परस्पर विवाह करने की भी अनुमति नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों संप्रदायों के अपने-अपने अलग मंदिर हैं, जिनमें दिगम्बरों के मंदिरों में मूर्तियाँ नग्न होती हैं जबकि श्वेताम्बरों में वस्त्र धारण करने वाली। उसी प्रकार सम्प्रदायों के धार्मिक गुरु भी या तो नग्न रहते हैं या श्वेतवस्त्र धारण करते हैं। कुछ कारणों से जिनका उल्लेख बाद में किया जायगा, दिगम्बर श्वेताम्बरों की धार्मिक पुस्तकों को मान्यता नहीं देते तथा अपने धर्म ग्रन्थ अलग से रखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये दोनों संप्रदाय जो महावीर और उनकी शिक्षाओं को मानते हैं वास्तविक धार्मिक जीवन में दो अलग-अलग समाजों की तरह व्यवहार करते हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि किस प्रकार एक ही धार्मिक दर्शन वाले समाज ने किसी एक समय पर दो अलग-अलग समाजों की तरह व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया ? दोनों सम्प्रदायों का धार्मिक साहित्य इस बिन्दु पर पूर्णतया चुप है। इस प्रकार यह संभव है कि प्रारम्भ में यह संघ अविभक्त था, जिनमें से ज्यादा रूढ़िवादी साधु नग्न (जिन कल्प) रहते थे और दूसरे वस्त्र धारण करते थे (स्थविर कल्प)। वास्तव में श्वेताम्बरों के बहुशास्त्रज्ञ हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्वम में लिखा है कि राजा संप्रति के समय में उज्जयनी में संघ के दो नेता थे महागिरी और सुहस्तिन। कुछ समय बाद "महागिरी ने अपने शिष्यों" को सुहस्तिन को सौंप दिया और वे जिनकल्पिक की तरह रहने लगे यद्यपि उस समय तक जिनकल्प की परिपाटी समाप्त प्रायः हो गई थी। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ में नग्नता वैकल्पिक थी परन्तु बाद में जिन लोगों ने इसको माना उनके लिये यह जैन धर्म का पारम्परिक स्वरूप बन गया। इस दृष्टिकोण से दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच अलगाव एक धीमी प्रक्रिया रही है और उनकी विभक्ति का कोई एक समय बिन्दु नहीं है। यही संभावित सिद्धान्त प्रतीत होता है।

इस सिद्धान्त में थोड़े से परिवर्तन से हेमचन्द्र गलत साबित होंगे और वह यह कि जिन- कल्पिक प्रथा कभी समाप्त ही नहीं हुई थी। जैन साधुओं का एक समूह लगातार इसका अभ्यास करता रहा और जो बाद में दिगम्बर कहलाया। जैन धर्म के महान् विद्वान होर्नेल ने (Encyclopedia of Religion and Elhies)

'एनसाईक्लोपिडिया ऑफ रिलीजन एण्ड इथीक्स' में आजीविकों पर लेख में यह तर्क दिया है। प्रारम्भ में दिगम्बर वे ही आजीविक थे जो अपने नेता मक्खलि गोशाल के उसकी मृत्यु के समय के व्यवहार से दुःखी थे। उसका संप्रदाय छोड़कर वे महावीर के साथ हो गये थे और उनके अनुयायी बन गये थे। इस प्रकार महावीर के समय से ही दिगम्बरों का समूह अलग ही था। हार्नेल के कयास के मुख्यतया दो आधार हैं। प्रथम तो यह कि आजिविक न केवल पूर्णतया नग्न (वे अचलेक थे) रहने का अभ्यास करते थे, लेकिन उनके रीति-रिवाज कुछ सीमा तक दिगम्बर साधुओं से मिलते- जुलते थे। इस दूसरे बिन्दु पर हार्नेल ने कुछ उदाहरण उद्धृत किये हैं जो तथ्यों से मेल नहीं खाते। उदाहरण के तौर पर हार्नेल कहता है कि आजिविक अपने साथ एक डंडी ले जाया करते थे—और आज भी दिगम्बर साधु, वैसा ही करते हैं। वस्तुतः श्वेताम्बर साधु ही डंडी लेकर चलते हैं न कि दिगम्बर साधु क्योंकि उनके पास कोई भी सांसारिक वस्तु नहीं रहती। हार्नेल का दूसरा तर्क यह है कि बहुत सारे पुराने लेखकों और कोष विशेषज्ञों ने आजीविकों को दिगम्बर समझने की भ्रान्ति की है। ए.एल. बाशम ने अपनी पुस्तक "आजीविक" में यह बतलाया है कि होर्नेल अधिकांश पुराने विद्वानों को ठीक से नहीं समझा और जिस प्रकार होर्नेल आरोप लगाते हैं वैसा कोई भ्रम नहीं है। परन्तु बाशम श्वेताम्बर पंडित शीलांक (9वीं सदी) की टिप्पणी को स्पष्ट नहीं कर सके। सूत्र कृतांग के भाष्य में, उन साधुओं के बारे में जो महावीर के शिष्यों को गालियाँ देते थे, शीलांक ने कहा कि ये गालियाँ देने वाले आजीविक अथवा दिगम्बर थे। क्या यह संभव है कि शीलांक जैसा विद्वान लेखक आजीविकों और दिगम्बरों को एक बताने की भूल कर सकता है ? होर्नेल के साथ एक मत होते हुए यह सोचा जा सकता है कि आजीविक और दिगम्बर एक ही थे। अधिकतर साक्ष्य, होर्नेल के अन्दाज (कयास) के विपरीत ही है और शीलांक के एकाकी संदर्भ के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि कुछ आजीविक ही दिगम्बर संप्रदाय के केन्द्र बिन्दु बने।

(उसी भाष्य में शीलांक ने आजीविकों के बारे में एक अन्य रहस्यमय संदर्भ किया है। इस बार वो गोशाल के अनुयायियों (आजीविकों) को जैन संघ की छठी विभक्ति के नेता रोहगुप्त के अनुयायी— तेरसिया के समान समझता है।

जैनों के दोनों संप्रदाय श्वेताम्बरों व दिगम्बरों के इस विभक्ति के बारे में अपने-अपने विचार हैं। ये इस घटना के काफी समय बाद की पुस्तकों में वर्णित है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है ये मात्र पौराणिक कथायें हैं और इनको इतिहास की तरह प्रमाणित नहीं माना जा सकता। श्वेताम्बरों का कथन 500 ईसवी के आसपास के ग्रन्थ "आवश्यक भाष्य" में वर्णित है।

रथवीर पुर नगर में शिवभूति नाम का एक व्यक्ति रहता था जिसने एक नया संप्रदाय बोडिया चलाया था। इसको प्रारम्भ करने का अवसर निम्न कारणों से उत्पन्न हुआ :

शिवभूति ने अपने राजा के लिए कई युद्धों में विजय प्राप्त की और राजा ने भी उसे कई प्रकार से सम्मानित किया। इससे शिवभूति को बहुत घमण्ड हो गया और वह रात्रि को देर से घर लौटने लगा। एक रात्रि को पुत्रवधू की शिकायत पर, उसकी माँ ने दरवाजा खोलने से मना कर दिया और कहीं ऐसी जगह जाने को कहा जहाँ का दरवाजा खुला हो। कुपित होकर शिवभूति जिस स्थान पर गया वह उपाश्रय निकला। उसने प्रमुख आचार्य को उसे दीक्षित करने को कहा परन्तु उसने मना कर दिया— इस पर शिवभूति ने स्वयं अपने बालों का लोच कर दिया और वो साधु बन कर घूमने लगा। कुछ समय पश्चात् स्व- दीक्षित साधु शिवभूति अपने ही नगर आया। उसके पूर्व मित्र वहाँ के राजा को उसके आगमन की सूचना मिली और उसने उसे एक बहुमूल्य वस्त्र (रत्न कम्बल) भेंट स्वरूप भेजा।.

शिवभूति के गुरुओं ने प्रतिवाद किया और उसे ऐसे वस्त्र का प्रयोग करने की अनुमति नहीं दी। जब शिवभूति ने उनकी बात नहीं मानी तो उसने (गुरु ने) वस्त्र के टुकड़े कर दिये और उसकी चटाई बना दी। इससे क्रोधित होकर, शिवभूति ने सारे ही वस्त्र उतार दिये।

(इससे एक भिन्न कथा में कहा गया है कि यह अवसर तब उत्पन्न हुआ था जबकि उसके गुरु एक कक्षा में किसी ग्रन्थ की व्याख्या कर रहे थे और निम्न "अंश" में जिनकल्प की विशेष अवस्था का जिक्र कर रहे थे।)

"जिनकल्पिया या__दुविहा।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिनकल्पिया दो प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ के पास आवश्यक गुण होते हैं, जबकि दूसरे के पास नहीं। यह सुनकर शिवभूति ने अपने गुरु से पूछा, "जब जिनकल्प की परिपाटी का प्रचलन है तो फिर वस्त्रों का बन्धन क्यों ? एक साधु जो जिनकल्प की परिपाटी अपनाता है और एकान्तवास करता है उसे संयम के सिद्धान्तों को, जिनमें नग्नता भी सम्मिलित है— मानना चाहिये।" गुरु ने उसे बहुत समझाया पर शिवभूति किसी की सुनने को तैयार नहीं हुआ और अपने सारे वस्त्र उतार दिये। इस प्रकार उसी ने जैन सम्प्रदाय में विभक्ति उत्पन्न की।

उसकी बहिन उत्तरा ने भी उसका अनुसरण किया और वह भी नग्न हो गई। परन्तु शहर की वैश्याओं के शिकायत करने पर कि स्त्री के शरीर के भद्देपन को देखकर लोग उनके पास आना छोड़ देगें, शिवभूति ने अपनी बहिन को नग्न रहने की अनुमति नहीं दी। इस प्रकार शिवभूति के नेतृत्व में बोडिया द्वारा नग्न रहने की प्रथा प्रारम्भ की गई थी। ये बोडिया ही संभवतः बाद में दिगम्बर कहलाये। यह आठवाँ विभाजन, श्वेताम्बरों के अनुसार 609 वीर संवत् और <u>83</u> ईसवी में हुआ।

दिगम्बरों का कथन कि श्वेताम्बर मूल संघ से किस प्रकार अलग हुए बिल्कुल ही भिन्न है। इसका लिखित उल्लेख भी बहुत बाद में हुआ। इसका पहिला अभिलेख हरिसेन के 931 ईसवी के वृहत् कथा कोष में पाया जाता है। यह इस प्रकार है:

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में, भद्रबाहु ने भविष्यवाणी की थी कि मगधदेश में बारह वर्ष तक भयंकर अकाल पड़ेगा। अतः जैन संघ का एक हिस्सा उनके नेतृत्व में दक्षिण भारत चला गया जबकि दूसरा हिस्सा मगध में ही रहा।

कुछ समय बाद जब धर्म के नेता उज्जयनी में मिले तब तक अकाल समाप्त नहीं हुआ था अतः उन्होंने साधुओं को भिक्षा लेने जाते समय अपनी शर्म ढकने के लिए कपड़े के टुकड़े (अर्द्ध फलक) का प्रयोग करने की अनुमति दे दी। अकाल समाप्त होने के बाद भी इन साधुओं ने वस्त्र का प्रयोग नहीं छोड़ा। पुरातन पंथियों ने इसका विरोध किया। इस प्रकार ये अर्द्ध फलक श्वेताम्बरों के संप्रदाय के पूर्वज बने।

अन्तिम विभक्ति वल्लभीपुर के राजा लोकपाल की पत्नी चन्द्रलेखा के कारण हुई। ऐसा कहा जाता है कि ये अर्द्ध फलक साधु, उसके द्वारा आमंत्रित किये गये थे परन्तु उन्हें अर्द्ध नग्न देखकर, राजा बहुत ही निराश हुआ और रानी ने उन्हें पूर्णतया कपड़े पहिनने को कहा। तब से अर्द्ध फलकों ने श्वेत वस्त्र धारण कर लिये और श्वेतपात कहलाने लगे। यह ईसवी 80 में हुआ। कदम्ब राजा मृगसेन वर्मा (475-490 ईसवी) द्वारा उसके शासन काल के चौथे वर्ष में दिये गये दान में श्वेतपात संघ का उल्लेख है। वैजयन्ती नगर में रहने वाले जैन समुदाय को एक गाँव दान में दिया गया था। गाँव तीन भागों में विभक्त था पहिला पवित्र अरहत के नाम, दूसरा प्रकांड तपस्वी—श्वेतपातों के नाम—जो सच्चे धर्म (सद्धर्म) का पालन करते थे और तीसरा प्रकांड तपस्वी जो निगण्ठ कहलाते थे, उनके नाम। इस प्रकार कर्नाटक के इस शहर में श्वेतपात ओर निगण्ठ एक ही मंदिर में अर्हत की पूजा किया करते थे। यह ज्ञात नही कि शिलालेख में जिस श्वेतपात संघ का संदर्भ आया है और दिगम्बरों की उपर्युक्त कथा में जिन श्वेतपातों का उल्लेख है वे एक ही हैं अथवा भिन्न हैं।

दिगम्बरों के वर्णन में एक गंभीर कमजोरी है। दिगम्बरों के उन सबसे पुराने शिलालेखों में जिनमें इस अकाल का वर्णन है— इस कथा का उल्लेख नहीं है। श्रवण बेलगोल के इस शिलालेख में कहा गया है कि भद्रबाहु ने उज्जयनी में अकाल की बात कही थी— मगध में नहीं। इसके अलावा उनका स्वयं का दक्षिण भारत जाना भी उल्लेखित नहीं है। इस प्रकार दिगम्बर वर्णन में आपस में विरोधाभास है। दूसरी ओर श्वेताम्बरों का संघ के विभक्त होने का मत भी, इतनी महत्त्वपूर्ण घटना के लिये बचकाना है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सारी कहानियाँ वास्तविक विभाजन के काफी समय बाद बनाई गई हैं। प्रारंभ में विभाजन एक धीमी प्रक्रिया रहा होगा और जो कहीं 5 वीं सदी के अन्त में जाकर समाप्त हुआ होगा। हमें ज्ञात नहीं कि ये दोनों सम्प्रदाय वास्तव में अन्तिम रूप में कब विभक्त हुए परन्तु हमारे पास इस बात का शिलालेखीय प्रमाण है कि तीसरी सदी में इनके मतभेद इतने तीव्र नहीं थे। मथुरा के कनक- टीला में जो मूर्तियाँ पाई गई हैं वे इसी काल की हैं। उनमें तीर्थंकरों को नग्न बतलाया गया है।

परन्तु इनके भेंटकर्ता संभवतः श्वेताम्बर संप्रदाय के थे क्योंकि जिन शाखाओं और गणों के वे लोग थे, उनका श्वेताम्बरों के कल्पसूत्र में भी उल्लेख है। इसके अलावा कुछ शिलालेखों से यह भी प्रतीत होता है कि कुछ भेंटकर्ता साध्वियाँ थीं या उनके शिष्य थे। इस प्रकार यद्यपि ये मूर्तियाँ दिगम्बर शैली में हैं परन्तु इनकी पूजा करने वाले दिगम्बर पुरातन पंथी विचारों के नहीं थे कि स्त्रियों को साध्वी होने से रोकते। मथुरा के इन शिलालेखों की सही तिथि का निर्धारण कठिन है। इन पर कुषाण काल की तारीखें हैं और इसी काल के 5वें से 98वें वर्ष अंकित हैं। कुषाण काल के बारे में अभी तक भी यह विवाद चल रहा है कि यह कब प्रारम्भ हुआ और यदि हम आर.डी.मजूमदार द्वारा प्रस्तावित तिथि को मानें तो इस काल का प्रारंभ 244 ईसवी में हुआ था और इस प्रकार मथुरा के जैन शिलालेखों का समय तीसरी सदी के मध्य से लेकर चौथी सदी के मध्य तक का है। इसी प्रकार उस काल की उत्तर भारत में पाई गई तीर्थंकरों की अन्य मूर्तियाँ भी नग्न ही हैं। गोरखपुर जिले में कहूम के शिलालेख में आदिकर्ता की पाँच मूर्तियों की स्थापना का संदर्भ है। यह शिलालेख 460 ईसवी का है। पाई गई मूर्तियाँ नग्न हैं। निष्कर्ष यही है कि दोनों संप्रदायों के विश्वासों में फर्क जो भी रहा हो—यदि उस समय तक उनमें विभक्ति हो भी गई थी— तो इतनी स्पष्ट नहीं थी और दोनों ही नग्न मूर्तियों की पूजा करते थे।

दोनों संप्रदायों में वास्तविक अलगाव संभवतः 5वीं सदी में वल्लभी सम्मेलन के समय आया। ऐसा कहा जाता है कि श्वेताम्बरों के शास्त्र काफी अस्त-व्यस्त हो गये थे और इनके पूर्णतया समाप्त होने का खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः महावीर की मृत्यु के 980 वर्ष (या 993 वर्ष) बाद (5वीं सदी के मध्य में) गुजरात के वल्लभी नगर में देवर्धि क्षमा श्रमण के सभापतित्व में ग्रन्थों को एकत्रित करने और उनको लिपिबद्ध करने के लिए एक सम्मेलन हुआ। उस समय तक बारहवाँ अंग जिसमें पूर्व थे समाप्त हो गया था। इसी कारण जो भी संशोधित संस्करण हमें मिले हैं उनमें ग्यारह अंग ही है और जो देवर्धि के संस्करणों के समान हैं।

इस सम्मेलन द्वारा जो शास्त्र एकत्रित हुए उनकी प्रामाणिकता को दिगम्बर पूर्णतया नकारते हैं। उनका मानना है कि न केवल सभी 14 पूर्वों का ज्ञान पहिले ही लुप्त हो गया था वरन् जिस अन्तिम व्यक्ति को सभी ग्यारह अंगों का ज्ञान था, वह भी महावीर के निर्वाण के 436 वर्ष बाद ही स्वर्गवासी हो गया था। बाद के आचार्यों में जैसे-जैसे समय बीतता गया, अंगों के ज्ञान में कमी होती गई और महावीर के निर्वाण के 683 वर्ष बाद, इन ग्रन्थों का ज्ञान पूर्णतया विलुप्त हो गया। इस प्रकार वल्लभी सम्मेलन के समय में जैन- दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में- पूर्णतया विभक्त हो गये।

इस सिद्धान्त को कुछ मूर्तियों की साक्ष्य से भी बल मिलता है कि वास्तव में वल्लभी सम्मेलन के समय ही दोनों सम्प्रदाय अलग हुए। जैसा कि पहिले ही कहा जा

चुका है मथुरा में पाई गई सभी मूर्तियाँ, जो कुषाण काल की हैं, या तो तीर्थंकरों को खड़े हुए और नग्न बतलाया है अथवा यदि बैठे हुए हैं तो पद्मासन में। वे इस प्रकार बनाई गई हैं कि न तो उनके वस्त्र ही दिखते हैं और न जननेन्द्रियाँ ही। इस प्रकार कुषाण काल तक दोनों संप्रदाय नग्न मूर्तियाँ ही पूजते थे। किसी तीर्थंकर की सबसे पुरानी मूर्ति जिसके अधोवस्त्र हों, वो ऋषभदेव की खड़ी मूर्ति है जो गुजरात में अकोटा में पाई गई है। इस मूर्ति की तारीख 5वीं सदी का अंतिम भाग है। यह बल्लभी सम्मेलन के तुरन्त बाद की बात है।

दोनों सम्प्रदायों का भौगोलिक वितरण भी इस सिद्धान्त को कुछ अंशों में पुष्ट करता है कि बल्लभी सम्मेलन ही इस विभक्ति का प्रमुख कारण था। ऐसा पाया जाता है कि वल्लभी के 500 कि.मी. के क्षेत्र में ही श्वेताम्बरों की बहुतायत है। गुजरात और पश्चिमी राजस्थान के अधिकतर जैन श्वेताम्बर हैं जबकि पूर्वी राजस्थान, उत्तर प्रदेश और दक्षिण भारत के जैन दिगम्बर हैं।

यह संभव है कि उत्तर भारत के जैनों ने अपना सम्मेलन मथुरा में बुलाया होगा। उनका अध्यक्ष स्कन्दिल था। कल्पसूत्र के स्थविरों में यह नाम नहीं है परन्तु सूची में 33वाँ नाम शाण्डिल्य का है। इस सम्बन्ध में जेकोबी की टिप्पणी है, "मेरी समझ में शाण्डिल्य और स्कन्दिल एक ही है जो कि मथुरा के सम्मेलन का अध्यक्ष था और जो वल्लभी सम्मेलन की प्रतिस्पर्द्धा में हुआ था।"

दूसरे शब्दों में जिन लोगों ने बल्लभी में संकलित और संशोधित साहित्य को शास्त्र मान लिया- वे बाद में श्वेताम्बर कहलाये और वे जिन्होंने या तो मथुरा में अपना सम्मेलन किया अथवा जिन्होंने कोई सम्मेलन किया ही नहीं जैसा कि दक्षिण भारत में, वे लोग दिगम्बर कहलाये।

दक्षिण भारत के दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों के बल्लभी सम्मेलन होने से बहुत पहले से ही, अपने धार्मिक साहित्य का विकास प्रारम्भ कर दिया था। उनके लिये ऐसा करना आवश्यक हो गया था क्योंकि उनके अनुसार अन्तिम आचार्य, जिन्हें अंगों का थोड़ा बहुत भी ज्ञान था, महावीर के निर्वाण के 683 वर्षों के बाद स्वर्गवासी हो गये थे। इन आचार्य का नाम भूतबली था। ऐसा कोई नहीं बचा था जिसे मूल शास्त्रों का थोड़ा बहुत भी ज्ञान होता। दिगम्बरों की सूची के अनुसार दूसरे आचार्य भद्रबाहु द्वितीय थे। कुन्दकुन्द जो अपने आपको इन भद्रबाहु का शिष्य बतलाते हैं— ने तब दिगम्बरों के लिए धार्मिक ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने कुल मिलाकर 84 ग्रन्थों की रचना की। कुन्दकुन्द द्वारा रचित सभी ग्रन्थों के नामों की जानकारी नहीं है। परन्तु उनके तीन ग्रन्थ, समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायसार दिगम्बरों द्वारा इतने महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं कि वे सम्मिलित रूप से प्रभृतत्रय अथवा सारत्रय कहलाते हैं और वेन्दान्तियों के प्रस्थानत्रय की याद दिलवाते हैं। वास्तव में दिगम्बर संतों में कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व

इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि एक लोकप्रिय दिगम्बर स्वस्तिगान में निम्न प्रकार कहा गया है :

"मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतमगणी,

मंगलम् कुन्द कुन्दयाद्यौ, जैन धर्मो-स्तु मंगलम्।

इस प्रकार दिगम्बरों के लिए कुन्दकुन्द इतने ही महत्त्वपूर्ण धर्माचार्य हैं जितने सुधर्मा श्वेताम्बरों के लिए।

कुन्दकुन्द के बाद कई दिगम्बर लेखक हुए जैसे वट्केरा, कार्तिकेय स्वामी आदि। करीब- करीब ये सभी लेखक दक्षिण भारत के हैं। इस प्रकार जब सन् ईसवी के प्रारम्भिक काल की सदियों में श्वेताम्बरों का बौद्धिक केन्द्र पश्चिमी भारत में पनप रहा था तब दिगम्बरों का बौद्धिक केन्द्र कर्नाटक के दक्षिण-पश्चिम में विकसित हो रहा था। संभवतः इन दोनों बौद्धिक केन्द्रों के बीच यह भौगोलिक अन्तर ही मुख्य कारण था जिससे दोनों संप्रदायों के लोग दूर हो गये। कुछ सीमा तक देवताओं में भी फर्क आने लगा। दिगम्बरों ने कर्नाटक के दक्षिण पश्चिम में प्रथम तीर्थंकर के पुत्र बाहुबली को अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता बना लिया और उनके लिये अत्यन्त भव्य मूर्ति बनाई। इसके विपरीत श्वेताम्बर आख्यानों में बाहुबली का मुश्किल से ही कहीं उल्लेख आता है।

दिगम्बर अपने संप्रदाय को मूल संघ कहने लगे। बाद में मूल संघ में शाखायें हो गईं जैसे नन्दी, सिंह आदि। परन्तु सभी दिगम्बर भले ही वे किसी भी गच्छ के हों, अपने गच्छ का उद्भव मूल संघ से ही बतलाते हैं।

ईसवी सन् की कुछ प्रारंभिक सदियों में दक्षिण भारत के जैनों में प्रमुख दिगम्बर ही थे। केवल एक ही शिलालेख (दान से सम्बन्धित) भारत के इस भू- भाग में पाया गया है जिसमें नाम से श्वेतपात (श्वेताम्बर) का उल्लेख है। यह राजा मृगेशवर्मन का देवगिरी (धारवाड़ जिला) का शिलालेख है जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। सालेतोर के अनुसार उसका काल 475 से 490 ईसवी था।

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच मतभेद

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच जिन बिन्दुओं पर मतभेद हैं, वे अठारह हैं। इनकी सूची निम्न है:

दिगम्बरों को श्वेताम्बरों की निम्न मान्यताएँ स्वीकार नहीं हैं :

1. कि केवली को भोजन की आवश्यकता है।
2. कि केवली को निवृत्त होने की आवश्यकता है।
3. कि स्त्रियाँ भी मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। दिगम्बरों के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के लिए स्त्रियों को पुरुषों की तरह जन्म लेना पड़ता है।

4. कि शूद्र भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।
5. कि बिना वस्त्रों का परित्याग किये भी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।
6. कि गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।
7. कि वस्त्रालंकार युक्त मूर्तियों की पूजा की जा सकती है।
8. कि साधु चौदह (निर्धारित) वस्तुएँ रख सकते हैं।
9. कि तीर्थंकर मल्ली एक स्त्री थी।
10. कि बारह मूल अंगों (शास्त्र) में से ग्यारह अब भी उपलब्ध हैं।
11. कि भरत चक्रवर्ती को महलों में निवास करते हुए ही केवल ज्ञान हो गया था।
12. कि साधु शूद्र से भी भोजन ग्रहण कर सकता है।
13. कि महावीर का भ्रूण एक गर्भ से दूसरे गर्भ में स्थानान्तरित किया गया था। महावीर की माता को उनके उत्पन्न होने से पूर्व चौदह स्वप्न आये थे। दिगम्बरों का विश्वास है कि उसे वास्तव में सोलह सपने आये थे।
14. कि महावीर गोशाल की तेजोलेश्या से रुग्ण हो गये थे।
15. कि महावीर का विवाह हुआ था और उनकी एक पुत्री भी थी।
16. कि देवताओं (देव दुस्य) द्वारा महावीर को एक वस्त्र भेंट किया गया था जो तीर्थंकर के कंधों पर गिरा था।
17. कि मरुदेवी ने हाथी पर बैठकर निर्वाण प्राप्त किया था।
18. कि साधु कई घरों से अपनी भिक्षा प्राप्त कर सकता है।

दिगम्बर

महावीर के बाद दिगम्बर संघ का इतिहास साधारणतया चार कालों में विभक्त किया जा सकता है। ये काल एक दूसरे से भिन्न इसलिए नहीं हैं कि उनमें कोई विशेषता हो, परन्तु मुख्यतया इसलिए कि अन्तिम से पहिले वाला प्रत्येक काल अधिक से अधिक अस्पष्टता में परिवेष्टित है। जिसके फलस्वरूप इन चार कालों में सबसे पहिले काल के बारे में वास्तव में कुछ भी ज्ञात नहीं है जबकि दूसरे के बारे में थोड़ी सी जानकारी है और इसी प्रकार तीसरे और चौथे के बारे में भी थोड़ी–थोड़ी अधिक जानकारी है। ये काल निम्न प्रकार से हैं --

(अ) महावीर के बाद ही प्रथम पाँच या छः शताब्दी—महावीर, और ईसवी सन् प्रारंभ होने के बीच का काल।

(ब) ईसवी सन् प्रारंभ होने से लेकर आठ सदियाँ। यह आचार्यों का काल कहा जा सकता है।

(स) भट्टारकों के प्रभुत्व का काल सतरहवीं–अठारहवीं सदी तक।

(द) सुधारवादी काल-सतरहवीं-अठारहवीं सदी से वर्तमान युग तक।

प्रथम छः सदियाँ : जैसा कि पहिले कहा जा चुका है दिगम्बर संप्रदाय के इतिहास की प्रथम पाँच–छः सदियाँ अन्धकारमय है। इन सदियों में हम इस जैन सम्मदाय के अलग संघ की तरह के इतिहास के बारे में कुछ भी नहीं जानते। इसका संभावित कारण यह हो सकता है कि तब तक ये दोनों सम्प्रदाय अलग नहीं हुए थे और इसीलिये इनका अलग इतिहास नहीं था। श्वेताम्बरों के विपरीत, दिगम्बरों ने अपने संप्रदाय का अलग से कोई इतिहास नहीं लिखा और जो कुछ हमारे पास है वह मात्र धर्माचार्यों की कुछ सूचियाँ ही है। इन सूचियों पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि ये कई–कई शताब्दियों बाद संकलित की गई थीं। वास्तव में जो प्रथम साक्ष्य हमें उपलब्ध है वह श्रवण बेलगोल का शिलालेख है जो 600 ईसवी का है। महावीर के बाद करीब ग्यारहवी सदी की श्रवण बेलगोल की उत्तराधिकारियों की सूची निम्न प्रकार है— महावीर, गौतम, लोहाचार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाखा प्रोष्ठिल, कार्तिकेय (क्षत्रियकार्य), जया, नाम (नाग) सिद्धार्थ, धृतिसेन, बुद्धिल आदि।

यह उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बरों की सूची से अन्तर प्रारंभ से ही हो गया था। श्वेताम्बरों की कल्पसूत्र में दी गई सूची में महावीर के उत्तराधिकारी के रूप में

गौतम का नाम नहीं है। वास्तव में कल्पसूत्र में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि उनके केवल दो गणधर इन्द्रभूति और सुधर्मा ही महावीर के बाद बचे थे और महावीर के बाद जैन संघ के प्रमुख सुधर्मा ही बने थे। किसी अन्य गणधर के कोई आध्यात्मिक उत्तराधिकारी नहीं था। दिगम्बर सूची में महावीर का प्रथम उत्तराधिकारी इन्द्रभूति था जो गोत्र से गौतम था। दोनों ही संप्रदाय इस बात से तो सहमत हैं कि इन्द्रभूति गौतम केवली था परन्तु श्वेताम्बर उन्हें संघ का प्रमुख नहीं मानते और न यह मानते हैं कि उनके कोई शिष्य भी थे।

यह भ्रान्ति आगे के नामों तक भी चलती है। कई दिगम्बर सूचियों में, जिनमें श्रवणबेलगोल का शिलालेख भी सम्मिलित है— लोहाचार्य को गौतम का उत्तराधिकारी बतलाया गया है। श्वेताम्बर लोहाचार्य के नाम से अनभिज्ञ हैं। दूसरी दिगम्बर सूचियों (जैसे हरिवंश पुराण की) में सुधर्मा को गौतम का उत्तराधिकारी बतलाया गया है। सौभाग्यवश सुधर्मा और लोहाचार्य एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। इस बात का स्पष्ट उल्लेख जम्बूद्वीप पन्नति में है।

दिगम्बर सूची में लोहाचार्य और श्वेताम्बर सूची में सुधर्मा के उत्तराधिकारी जम्बूस्वामी हैं। यहाँ पहली और अन्तिम बार दिगम्बर और श्वेताम्बर सूचियाँ उत्तराधिकारियों के बारे में एकमत हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सहमत हैं कि महावीर के बाद केवल तीन व्यक्ति—गौतम, सुधर्मा और जम्बू केवली हुए हैं।

श्रवणबेलगोल की सूची (ईसवी 600) में अगले तीन नाम हैं–विष्णुदेव, अपराजित और गोवर्धन। बाद के दिगम्बर ग्रन्थ जैसे हरिवंश पुराण (8वीं सदी का अन्तिम भाग) में नन्दीमित्र का नाम भी सम्मिलित है जो विष्णुदेव और अपराजित के नाम के बीच में है। आज के दिगम्बर यह बाद की चार नामों की सूची स्वीकार करते हैं। जो भी हो ये सभी नाम श्वेताम्बरों को ज्ञात नहीं हैं। उनके यहाँ इनके बदले निम्न तीन नाम हैं — प्रभव, शय्यम्भव तथा यशोभद्र।

शय्यम्भव जैसा कि हमने देखा है — दशा वैकालिक जो कि श्वेताम्बरों के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है— का लेखक है परन्तु दिगम्बर न तो उसका नाम जानते हैं और न इस पुस्तक को मानते हैं।

दिगम्बर सूची में गोवर्धन का उत्तराधिकारी भद्रबाहु है। श्वेताम्बर सूची में इनके स्थान पर दो अन्य व्यक्ति — भद्रबाहु और संभूतविजय हैं— जो संघ के संयुक्त अध्यक्ष थे। श्रवणबेलगोल शिलालेख (600 ईसवी) के अनुसार ये वे ही भद्रबाहु थे जिन्होंने उज्जयनी में अकाल की भविष्यवाणी की थी और वहाँ के जैन समाज को प्रभाचन्द्र के नेतृत्व में दक्षिण भारत जाने के लिए प्रेरित किया था। (अथवा बाद के कथनानुसार वे स्वय (मगध के ?) जैन समाज को दक्षिण भारत ले गये) न तो श्वेताम्बर न दिगम्बरों

के प्रारम्भिक संदर्भ यह बतलाते हैं कि भद्रबाहु स्वयं दक्षिण भारत गये थे। परन्तु बाद की दिगम्बर परम्परा इस बात पर जोर देती है कि भद्रबाहु ने ही दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रादुभार्व किया। यह बात तभी सुलझ सकती है जबकि हम यह मान लें कि समाज को दक्षिण भारत ले जाने वाला भद्रबाहु कोई और था। यह द्वितीय भद्रबाहु दिगम्बर सूची में सत्ताईसवाँ आचार्य है (श्वेताम्बर इससे अपरिचित हैं) । यह एक उपांगी था अर्थात् केवल एक अंग को जानने वाला था—और भद्रबाहु प्रथम जो बारह अंगों का जानकार था, की तरह श्रुत केवली नहीं था। भद्रबाहु द्वितीय, महावीर के निर्वाण के 515 वर्षों के बाद (12 ईसवीं पूर्व) स्वर्गवासी हुए थे और हम जानते हैं कि वे दक्षिण भारत के थे क्योंकि महान कुन्दकुन्द भी दक्षिण भारत के थे और वे स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य बतलाते थे।

यहाँ मामला थोड़ा भ्रामक है क्योंकि दिगम्बरों की पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द भद्रबाहु द्वितीय के बाद चौथे आचार्य थे न कि प्रथम। वास्तविक सूची निम्न प्रकार है --

(1) भद्रबाहु द्वितीय (2) गुप्ती गुप्त (3) माघनन्दी प्रथम

(4) जिन चन्द्र प्रथम (5) कुन्दकुन्द

इस समस्या का संभावित हल यह हो सकता है कि ये चारों व्यक्ति, गुप्ती गुप्त, से कुन्द–कुन्द तक, भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य हों और एक के बाद दूसरा आचार्य बनता गया हो।

जैसा कि हम जानते हैं भद्रबाहु प्रथम अन्तिम श्रुतकेवली था। उसके बाद के आचार्य दशपूर्वी अर्थात् ग्यारह अंग और दस पूर्वों के जानकार थे। उनके नाम हैं— (1) विशाखा (2) प्रोष्ठिल (3) क्षत्रिय (4) जयसेन (5) नागसेन (6) सिद्धार्थ (7) धृतिसेन (8) विजय (9) बुद्धिलिंग (10) देव प्रथम (11) धरशेन। इनके नामों के अलावा हमें और कोई जानकारी नहीं है।

इनके बाद एकादशांगी हुए जो केवल ग्यारह अंगों के जानकार थे। इनके नाम —

(1) नक्षत्री (2) जयपालक (3) पाण्डव (4) ध्रुवसेन (5) कंस

इनके बाद आये उपांगी, जो केवल एक अंग के जानकार थे। ये थे : (1) सुभद्र (2) यशोभद्र (3) भद्रबाहु द्वितीय (4) लोहाचार्य द्वितीय

अंत में एकांगी थे। उनको शास्त्रों का आंशिक ज्ञान था।

उनके नाम थे — (1) अहर्दबली (2) माघनन्दी (3) धरसेन (4) पुष्पदन्त (5) भूतबलि।

एकांगियों के समय से ही अर्थात् अर्हद्‌बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के बाद ही हमें दिगम्बर आचार्यों के बारे में कुछ तथ्य मिलते हैं। ये पांचों संभवतः भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य थे।

ऐसा कहा जाता है कि अहर्दबली ने ही मूल संघ को चार विभिन्न संघों में विभक्त किया था जो सिंह, नन्दी, सेन और देव कहलाये। यह जानकारी हमें 1398 एवं 1432 ईसवी के शिलालेखों और इन्द्रनन्दी द्वारा 1524 और 1565 के बीच रचित ग्रन्थ नीतिसार और पिछली सदी की पट्टावलियों से मिलती है।" यह नहीं कहा जा सकता कि अर्हद्‌बली द्वारा मूलसंघ को चार शाखाओं में विभक्त करने की कथा सही है अथवा नहीं। इनमें से आज कोई भी शाखा उपलब्ध नहीं है और इस विभाजन का पहिला उल्लेख भी कथित घटना होने के 1300 वर्षों के बाद किया गया है।

ऐसा कहा जाता है कि उपर्युक्त अंकित एकांगियों में से तीसरे धरसेन "अष्टांगमहानिमित्ता" विद्या में पारंगत थे। ये महानिमित्ताएँ क्या थीं ज्ञात नहीं, परन्तु ऐसा लगता है कि इनका सम्बन्ध ज्योतिष अथवा दिव्यदृष्टि से था, क्योंकि इसी शक्ति के आधार पर भद्रबाहु ने उज्जयनी में 12 वर्ष के अकाल की भविष्यवाणी की थी। जैसा कि हम श्रवणबेलगोल के शिलालेख (ईसवी 600) से जानते हैं "भद्रबाहु स्वामीना उज्जयींनाम अष्टांग महानिमित्ता तत्वज्ञेना—त्रलोक्य-दर्शिना, निमित्तेना द्वादशा सम्वतसर-काल वेषम्यम्-उपलम्मा" (भद्रबाहु स्वामी द्वारा, जिन्हें आठ महानिमित्तो का ज्ञान है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञाता हैं— उज्जयनी में 12 वर्ष के लिये भयंकर विपत्ति आने की पूर्व घोषणा की गई थी)।

धरसेन को भी अंग, पूर्व आदि शास्त्रों का आंशिक ज्ञान था। पौराणिक कथाओं के अनुसार धरसेन सौराष्ट्र में, गिरनार में रहता था। उसने दक्षिण भारत के जैनों को, शास्त्रों के ज्ञान के लुप्त होने के सम्बन्ध में सावधान करते हुए एक संदेश भिजवाया था। दक्षिणपथ के साधुओं ने दो बुद्धिमान व्यक्तियों को धरसेन के पास भिजवाया। धरसेन ने अपना समस्त ज्ञान इन दो व्यक्तियों को जिनके नाम पुष्पदंत और भूताबलि था—दे दिया। इन दोनों ने घर लौटकर, एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "षतखंडागम सूत्र" की रचना, अपनी शिक्षा को आधार बनाकर की, यह ग्रन्थ दिगम्बरों में शास्त्र के समान ही पूजा जाता है। यह ग्रन्थ ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को पूर्ण हुआ था, इसलिए यह दिन प्रतिवर्ष श्रुत-पंचमी की तरह मनाया जाता है।

आचार्यों का काल

कुन्दकुन्द

ईसवी सन् से पूर्व दक्षिण भारत में जैन धर्म के अस्तित्व का न तो साहित्य में और न शिलालेखों में ही कहीं कोई साक्ष्य मिलता है। परन्तु फिर भी हम अनुमान से उस समय कर्नाटक में जैनों के होने की बात मान सकते हैं। कुन्दकुन्द जो कि महान

आचार्य और जैन शास्त्रों के रचयिता थे, ईसा की प्रथम सदी के थे। यह बात बिल्कुल समझ से बाहर है कि जब तक उस क्षेत्र में जैन धर्म की कोई पुरातन परम्परा न हो, इस प्रकार का लेखक कैसे विकसित हो सकता है। दक्षिण कर्नाटक में काफी ऐसे पढ़े लिखे जैन होने चाहिए जो कुन्दकुन्द के लेखन को पढ़-समझ सकें। और भी कुन्दकुन्द ने प्राकृत (जो शौरसेनी जैसी ही है—मथुरा क्षेत्र की भाषा) भाषा में लिखा है और यह भाषा स्थानीय लोगों के लिए बिल्कुल ही अपरिचित थी, सिवाय जैन विद्वानों के।

जैसा कि हमने देखा, यह कुन्दकुन्द ही थे जिन्होंने दिगम्बर संप्रदाय के लिए कुछ दार्शनिक पुस्तकें लिखीं। वास्तव में, उन्हें गणधर के समान ही पूजा जाता है, यह मानकर कि वे उतने ही ज्ञानवान थे जितने कि महावीर के स्वयं के शिष्य। जैसे-जैसे समय बीतता गया, कुन्दकुन्द की चमत्कारिक शक्तियों में वृद्धि होती गई, और श्रवणबेलगोल के ईसवी 1398 के एक शिलालेख में कहा गया है कि जब कुन्दकुन्द चलते थे तब उनके पाँव धरती से चार अंगुल ऊपर रहते थे।

कई स्थान कुन्दकुन्द को अपना बतलाते हैं। गुंटकल रेल्वे स्टेशन से कुछ कि. मी. दूर एक गाँव है जो कोण्डाकुण्ड अथवा कोंका-कोण्ड के नाम से जाना जाता है (कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश की सीमा पर) और इसी गाँव में उनका जन्म होना बतलाते हैं। इसी से इस बात की पुष्टि होती है कि कुन्दकुन्द कर्नाटक के ही थे। दूसरी ओर यह भी सुझाव दिया गया है कि वे कांची के रहने वाले थे क्योंकि उनकी कर्मभूमि वही क्षेत्र था।

उनके सही नाम के बारे में भी कुछ कठिनाई है। उनके निम्न नाम बतलाये जाते हैं— मीवा, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छ, पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द। परन्तु जहाँ तक प्रथम चार नामों का सवाल है ऐसे ही नामों के पुराने जैन लेखक और भी हैं जो बाद की सदियों में हुए। अतः उन्हें कुन्दकुन्द के नाम से बुलाना ही ज्यादा सुरक्षित है।

उमास्वामी अथवा उमास्वाति

कुन्दकुन्द के बाद दिगम्बरों में सर्वाधिक यशस्वी आचार्य उमास्वामी थे। दक्षिण भारतीय शिलालेखों में उनका नाम कुन्दकुन्द के तुरन्त बाद आता है जिसका तात्पर्य यह है कि वे कुन्दकुन्द के शिष्य थे। कुन्दकुन्द की तरह ही उमास्वामी का उपनाम भी गृद्धपिच्छ अथवा गृद्पिंछ (गिद्ध का पंख) था। अधिकांश पट्टावलियों के अनुसार वे 135 ईसवी से 219 ईसवीं तक जीवित रहे।

दूसरी ओर श्वेताम्बरों के अनुसार उनका नाम उमास्वाति था। उनका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उनकी माता का नाम उमावत्सी तथा पिता का नाम स्वाति था। उसके गुरु का नाम घोषनन्दी क्षमाश्रमण था। उनके काल के बारे में श्वेताम्बर परम्पराएँ भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु उनमें से कोई भी दिगम्बर परम्परा से मेल नहीं खाती।

यह निश्चित नहीं है कि वे दक्षिण भारत के थे क्योंकि उन्होंने अपना महाग्रन्थ "तत्वार्थधिगम सूत्र" (वस्तुओं की सही प्रकृति के ज्ञान की नियमावली) की रचना पाटलीपुत्र में की थी। संस्कृत की यह नियमावली दिगम्बरों और श्वेताम्बरों, दोनों द्वारा प्रामाणिक मानी जाती है। विन्टर नीत्स लिखते हैं, "आज दिन तक भी निजी घरों और मंदिरों में इस ग्रन्थ का सभी जैनों द्वारा अध्ययन किया जाता है। इस पुस्तक को एक बार पढ़ने से, एक दिन उपवास करने जितना लाभ मिल जाता है। जैनों का तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, विश्वभूगोल, तत्वज्ञान एवं नैतिकशास्त्र सभी का इसके सूत्रों में तथा इसके भाष्य में जो लेखक ने स्वयं ही अपनी पुस्तक के साथ लगाई है—समावेश है और जो शास्त्रों के साथ भी मेल खाते हैं, विशेषकर अंग छः (ज्ञाताधर्म कथा) में। यहाँ तक कि आज भी जैनों के सिद्धान्त शास्त्र की यह एक उत्तम गुटिका बन सकती है। यह सही है कि वह भाष्य जिसका दृष्टिकोण दिगम्बर मत के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता, तो उसे उमास्वामी का विचार ही नहीं मानते। अतः यह शंकास्पद है कि दिगम्बरों का उन्हें अपना मानना क्या न्यायोचित है। "जो भी हो, उमास्वामी दिगम्बरों का एक महत्त्वपूर्ण लेखक है। वे उन्हें पुराने जमाने के श्रुतकेवली के बराबर का आदर देते हैं और उन्हें श्वेताम्बरों को समर्पित नहीं करना चाहेंगे। श्वेताम्बर भी उमास्वामी का काफी सम्मान करते हैं और उन्हें "पूर्ववित्" (पुराने ग्रन्थों को जानने वाले) तथा "वाचकाचार्य" की पदवी देते हैं।

उमास्वामी अथवा उमास्वाति एक महान लेखक था जिसने करीब 500 ग्रन्थों की रचना की। उनमें से आज बहुत कम जानकारी में हैं। दिगम्बर यह समझते हैं कि "पूजा-प्रकरण", "प्रशमरति" एवं "जम्बूद्वीप समास" उन्हीं के लिखे हुए हैं।

उमास्वामी के "तत्वार्थधिगम सूत्र" के पहिले भाष्यकारों में सिद्धसेन दिवाकर थे। उमास्वामी की ही तरह उन्हें भी दिगम्बर और श्वेताम्बर अपना मानते हैं। संभवतः वे अन्तिम आचार्य थे जिन्हें दोनों सम्प्रदायों ने अपना माना। जो भी हो, दक्षिण भारत की दिगम्बर पट्टावलियों में उनका नाम नहीं है।

समन्तभद्र

श्रवणबेलगोल के 1163 ईसवी के शिलालेख की पट्टावली के अनुसार उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ थे और उनके शिष्य थे समन्तभद्र। वे भी "स्वामी" कहलाते थे और बाद के आचार्यों ने उनको काफी सम्मान दिया है। जिस अवधि में इनका उत्कर्ष हुआ वह 120 और 185 ईसवी के बीच की थी। समन्तभद्र निश्चित रूप से दिगम्बर ही थे। अन्य पुस्तकों के अलावा उन्होंने उमास्वामी के "तत्त्वार्थधिगम सूत्र" पर एक भाष्य भी लिखा है। इस भाष्य का मूल भाग उपलब्ध नहीं है परन्तु इसकी भूमिका उपलब्ध है। यह "देवागम सूत्र" अथवा "आप्त मीमांसा" के नाम से जाना जाता है। स्यादवाद के जैन दर्शन की संभवतः पहली बार इस पुस्तक में पूर्ण व्याख्या की गई थी। इसीलिए अजैन दर्शनशास्त्रियों ने इस पर विचार-विमर्श किया जिनमें मीमांसा

विचारधारा के कुमारिल (8 वीं –9वीं सदी) और न्याय विचारधारा के वाचस्पति मिश्र हैं। सिवाय समन्तभद्र और अकलंक के बहुत कम ऐसे जैन लेखक हुए हैं जो अजैन दर्शनशास्त्रियों के ध्यान में आने योग्य पाये गये हों।

सिंहनन्दी

कुछ शिलालेखों में यह उल्लेख है कि समन्तभद्र का उत्तराधिकारी सिंहनन्दी था। पट्टावली के हिसाब से तब उसे दूसरी सदी का होना चाहिए। सिंहनन्दी किसी भी ग्रन्थ रचयिता की तरह नहीं जाना जाता। उनकी प्रसिद्धि तो इस बात के लिए है कि कर्नाटक में पश्चिमी गंग राज्य की नींव डालने का वह माध्यम बना।

इक्ष्वाकु वंश के दो राजकुमार दडिग और माधव उत्तर भारत से निष्क्रमण कर दक्षिण भारत आये। वे परूर (आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा जिले में) शहर में आये। वहाँ के एक जैन गुरु से मिले जिनका नाम सिंहनन्दी था। सिंहनन्दी ने उन्हें प्रशासन कला में निपुण कर दिया। गुरु के निर्देशानुसार माधव ने उस पाषाण स्तंभ को तोड़ डाला जो "साम्राज्य की देवी की ओर जाने वाले मार्ग पर "बाधा बनकर खड़ा था। इस पर सिंहनन्दी ने इन राजकुमारों को राजकीय अधिकार प्रदत्त किये और उन्हें एक साम्राज्य का अधिपति बना दिया।

कर्नाटक राज्य के एक शिलालेख में जो—12वीं सदी के प्रथम चौथाई भाग का है— इस कथा का पूरा विवरण उपलब्ध है। कहानी का केन्द्र बिन्दु तथा मुख्य घटना की कुछ अन्तर्कथाएँ, 5वीं सदी से आगे के शिलालेखों में पायी जाती हैं। इस प्रकार साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि सिंहनन्दी अथवा अन्य कोई जैन साधु का गंग साम्राज्य की स्थापना से कुछ सम्बन्ध था परन्तु ऐसा कोई स्वतंत्र शिलालेख यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि इस साम्राज्य का संस्थापक माधव स्वयं जैन हो गया हो, यद्यपि बाद के जैन शिलालेखों में उसे ऐसा माना गया है।

यदि सिंहनन्दी समन्तभद्र का उत्तराधिकारी था तब उक्त घटना तीसरी सदी के पूर्वार्द्ध में घटित हो जानी चाहिए थी परन्तु बहुत सारे विद्वान मानते हैं कि पश्चिमी गंग वंश चौथी सदी के उत्तरार्द्ध में स्थापित हुआ था। इस प्रकार सिंहनन्दी समन्तभद्र के तुरन्त बाद का उत्तराधिकारी नहीं था। वास्तव में अधिकांश दिगम्बर पट्टावलियों में सिंहनन्दी का उल्लेख तक नहीं है।

एक परम्परा के अनुसार सिंहनन्दी कवि परमेश्वर का उत्तराधिकारी था और उसका उत्तराधिकारी देवानन्दी था जिसे पूज्यपाद की पदवी थी। जो भी हो, दिगम्बरों की अधिकांश पट्टावलियाँ, जो साधारणतया सभी भद्रबाहु द्वितीय से प्रारंभ होती हैं, एक के बाद दूसरे संघाचार्यों के विवादास्पद नाम देती हैं। श्रवणबेलगोल का शिलालेख संख्या 40 निम्नानुसार है —

उमास्वाती — बलाकपिंच्छ — समन्तभद्र

देवनन्दी — अकलंक

कुछ दूसरी पट्टावलियों की सूची इस प्रकार है —

भद्रबाहु द्वितीय — गुप्ति गुप्त— माघनन्दी प्रथम,

जिन चन्द्र प्रथम — कुन्दकुन्द— उमास्वामी

लोहाचार्य द्वितीय — यशकीर्ति-यशोनन्दी

देवानन्दी — पूज्यपाद — गुणानन्दी प्रथम

प्रथम सूची के अनुसार देवानन्दी, समन्तभद्र का शिष्य था। दूसरी सूची में समन्तभद्र का नाम ही नहीं है।फिर देवनन्दी और पूज्यपाद भी दो अलग –अलग व्यक्ति हैं।

जो भी हो, साधारणतया यह बात सर्वमान्य है कि पूज्यपाद देवनन्दी की पदवी थी। उनकी दूसरी पदवी जिनेन्द्र बुद्धि थी। वे अपनी व्याकरण के लिए जाने जाते हैं जो "जिनेन्द्र व्याकरण" कहलाती है। 13वीं सदी में, वोपदेव उसे देश के आठ महान व्याकरणाचार्यों में मानते हैं। पूज्यपाद ने उमास्वामी के ग्रन्थ पर भी एक भाष्य लिखा था। जिसका नाम था सर्वार्थ सिद्धि।

इसके बाद अकलंक आते हैं — जिनके साथ कर्नाटक क्षेत्र में महान् जैन आचार्यों का काल समाप्त होता है। उपर्युक्त उल्लिखित पट्टावलियों में से एक के अनुसार वे पूज्याद देवनन्दी के शिष्य थे। विन्टरनित्श का विश्वास था कि वे करीब–करीब समन्तभद्र के समकालीन थे और दोनों ही आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। उमास्वामी के महान ग्रन्थ " तत्वार्थ राजवार्तिक " पर भाष्य लिखने के अलावा अकलंक ने तर्कशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखीं जैसे "न्यायविनिश्चय", "लघियास्त्र" और "स्वरूप सम्बोधन"। इस प्रकार वह जैन तर्कशास्त्र का स्वामी (स्यादवाद वाचस्पति) कहलाता था। जैसा पहिले कहा जा चुका है, उसका प्रतिद्वन्द्वी ब्राह्मण परम्परावादी महान. दार्शनिक कुमारिल था। अकलंक ने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं।

इस प्रकार प्रथम सदी से लेकर आठवीं सदी के अन्त तक, कर्नाटक क्षेत्र के जैनों ने कई प्रसिद्ध विद्वान उत्पन्न किये। कर्नाटक की जैन जाति, उन दिनों इन विद्वानों और उनके शिष्यों का पोषण करने के लिए काफी बड़ी और सम्पन्न होनी चाहिए।

तामिलनाडू — तामिल साहित्य में उपलब्ध अनेकों संदर्भों के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि 5वीं से 11 वीं सदी के बीच तामिलनाडू में जैन धर्म काफी महत्त्वपूर्ण था। संगम साहित्य में (चौथी सदी) जैन धर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं है परन्तु दो तामिल महाकाव्यों "सिलप्पादिकरम" एवं "मणिमेखलाई" में जैन धर्म के मानने वालों का उल्लेख है। ये दोनों महाकाव्य छठी या सातवीं सदी के हैं। मणिमेखलाई

बौद्ध ग्रन्थ है और जैनों को निगठों (निग्रन्थों) की तरह संदर्भित करता है। यह जैन धर्म के दर्शनशास्त्र का काफी अच्छा परिचय देता है परन्तु बौद्ध ग्रन्थ होने के कारण उसका प्रतिवाद करता है। सिलप्पादिकरम एक स्त्री की अपने पति के प्रति भक्ति की कहानी है। इसमें उराचूर जो चोलों की राजधानी थी, को जैन धर्म का केन्द्र बतलाया है। दोनों ही महान ग्रन्थ बतलाते हैं कि निगण्ठ शहर के बाहर ठंडे स्थानों पर रहते थे जिनकी दीवारें छोटे-छोटे फूलों के उद्यान से परिवेष्ठित थीं। साध्वियों के लिए भी मठ थे। जैन मठों के वर्णन से, इस कहानी की सत्यता पर संदेह होने लगता है, क्योंकि बौद्धों के विपरीत, वे मठों में रहने के पक्ष में नहीं हैं। दक्षिण भारत के जैन दिगम्बर थे उनमें साध्वियाँ नहीं होनी चाहिए— इसलिए उनके मठ होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरा तामिल ग्रन्थ पट्टीनापलाई है, जिसमें पुगार नगर के एक भाग में जैन और बौद्ध मंदिर होने की बात कही गई है जबकि दूसरे भाग में ब्राह्मण बालों में पट्टियाँ डालकर, होम किया करते थे और बहुत सारा धुँआं उड़ाया करते थे।

इन संदर्भों से पता चलता है कि तामिलनाडू में जैन इतनी अधिक संख्या में थे कि उस समय का लोकप्रिय साहित्य भी उनका उल्लेख करने से बच नहीं सका। परन्तु कुछ भी हो, यह सन्देह नहीं मिट पाता कि उस समय जैनों और बौद्धों को एक ही मानने की प्रवृत्ति थी। परन्तु ह्वेनसांग ने जो सातवीं सदी के मध्य में कांची गया था— ने भी रिपोर्ट दी है कि उसने उस स्थान पर कई निगण्ठों को देखा और चूँकि वह बौद्धों और निगण्ठों में फर्क करने में त्रुटि नहीं कर सकता था, यह निश्चित है कि उस समय तामिलनाडू में जैन जनसंख्या काफी बड़ी थी।

सातवीं सदी से, आठवीं और नवीं सदी में तामिलनाडू में जैन आबादी काफी अधिक थी क्योंकि बाद की अवधि के बहुत ही कम शिलालेख हैं। बहुत सारे तामिल शिलालेख (80 के लगभग) आठवीं और नौवीं शताब्दी के हैं और ये मुख्यतया मदुराई —तिरूनेलवली क्षेत्र में पाये गये हैं। [सेलम जिले में भी एक जैन मंदिर अथवा धार्मिक स्थान तागदूर (धर्मपुरी) में 878 ईसवी में था।] इस प्रकार नौवीं सदी में तामिलनाडू में काफी संख्या में जैन थे। उसके बाद संभवतः धीरे-धीरे जैन आबादी कम हो गई।

कई छोटे-बड़े जैन मंदिर तामिलनाडू में अब भी अवशेष हैं। इनमें से दो आज तक महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र हैं। एक त्तिरुमलाईपुरम में है और दूसरा तिरुपारुतिकुनरम में है। दूसरा कांजीवरम् का उपनगर है — जो नगर के केन्द्र से तीन किलोमीटर की दूरी पर है और अब भी जैन कांची कहलाता है। यहाँ के मूल नायक वर्धमान हैं जो त्रैलोक्यनाथ स्वामी की तरह भी जाने जाते हैं।यह मंदिर सारे तालुके में सबसे बड़ा है।

यह शानदार कलाकृतियों से सुसज्जित है तथा इसमें जैन परिपाटी के अनुसार कई मूर्तियाँ हैं। इस स्थान पर पाये गये शिलालेखों (संख्या में 17) से ऐसा लगता है कि यह चोल सम्राट राजेन्द्र प्रथम (ईसवी 1014-44) और कुलोत्तुंगा (ईसवी 1070-1120)

द्वारा बनवाया गया था और राजराजा तृतीय (ईसवीं 1216-46) द्वारा इसमें और भी वृद्धि की गई थी। बाद में जो वृद्धि की गई वह विजयनगर सम्राट बुक्का द्वितीय (ईसवी 1387-88) और कृष्णदेवराय (1518 में) द्वारा की गई। इस मंदिर में कुछ उल्लेखनीय भित्ति चित्र हैं। ये 16वीं से 18 वीं सदी तक के हैं।

यह तथ्य कि इतना बड़ा और सुन्दर जैन मंदिर तामिल देश के मध्य में था तथा उसकी 18वीं सदी में भी बड़ी मान्यता थी— यह सिद्ध करता है कि उस समय तक देश के इस भाग में पर्याप्त संख्या में सम्पन्न जैन जाति के लोग विद्यमान थे, अन्यथा इस मंदिर का संधारण नहीं हो पाता।

उसके बाद तामिलनाडू के जैनों का क्या हुआ ? संभावना यह है कि जैनों में से धनाढ्य वर्ग प्रभावशाली शैव और वैष्णव जाति जो उनको चारों ओर से घेरे हुए थी— में ही धीरे-धीरे समा गये तथा गरीब वर्ग कृषि करने लग गया। वास्तव में 50,000 स्थानीय जैन जो आज तामिलनाडू में हैं, कृषक हैं और उनमें से अधिकांश उत्तर आर्कोट जिले में रहते हैं। संभवतः जैनों में धनी व्यक्तियों की कमी होने से, तामिलनाडू में जैनों को महत्त्वहीन (inconspicuous) बना दिया है। यह भी संभव है कि सारी आबादी में उनका अनुपात एक हजार वर्ष से पहिले के अनुपात में कम हो गया है जबकि उन्होंने अनेकों मंदिर बनवाने प्रारम्भ किये थे और जो अब भी सभी स्थानों पर देखे जा सकते हैं।

एक कथा है कि सातवीं सदी में मदुराई क्षेत्र में अचानक जैनों की संख्या में कमी आई। यह शैव पुस्तकों में है। यह शैव संत ज्ञान सम्बन्ध । (सातवीं सदी के अंत) की कथा से प्रारम्भ होती है- जैसा कि "परियापुरनम" (1150 ईसवी) में दी गई है। मदुराई का एक पंडया राजा था जो कुबड़ा था। बालक संत ज्ञान सम्बन्ध ने उसको ठीक कर दिया तब कृतज्ञ राजा ने शैव मत स्वीकार कर लिया। इसने नगर के शैवों को साहसी बना दिया तथा उन्होंने स्थानीय जैनों को अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने की चुनौती दी। शर्त यह थी कि दोनों संप्रदाय अपने-अपने धार्मिक ग्रन्थ का एक ताड़पत्र नदी में फेंकेंगे और जिस पक्ष का ताड़पत्र खो जायेगा — उसको दूसरा पक्ष समाप्त कर देगा। जैनों का ताड़पत्र पानी में बह गया जबकि शैवों का ताड़पत्र पानी में तैरता रहा। मदुराई के 8000 जैनों को शैवों द्वारा शूली पर चढ़ाकर मार डाला गया। इस तथाकथित घटना का साक्ष्य है एक ग्रन्थ जो घटना के पाँच सौ वर्षों बाद रचा गया तथा कुछ भित्ति चित्र जो मीनाक्षी मंदिर के स्वर्ण कमल तालाब की दीवारों पर, हजार वर्ष बाद उकेरे गये।

किसी भी जैन ग्रन्थ में यह कहानी नहीं है और जैन इसके बारे में कुछ जानते भी नहीं तथा इस जनसंहार के लिए शैवों को दोष भी नहीं देते। दूसरी ओर हिन्दू इतिहासकार—इस कहानी की विसंगति सिद्ध करने में प्रयत्नरत हैं और इस प्रकार के तर्क

देते हैं जैसे (1) कि जैन ऐसी शर्त कभी भी नहीं लगा सकते जिसमें उन्हें जीतने पर मनुष्यों की हत्या करनी पड़े, (2) कि राजा कभी भी अपने 8000 निर्दोष लोगों को मारने की अनुमति नहीं दे सकता, (3) कि जैन विद्वान इस कथित घटना के बाद भी मदुराई में व्याकरण और कोष–कला के ग्रन्थों की रचना करते रहे। इन ग्रन्थों में जो विशेष उल्लेखनीय है दिवाकर द्वारा रचित "सेनदान दिवाकरम्" — एक तामिल शब्द-कोष, तथा गुणवीर पंडित द्वारा रचित दो तामिल व्याकरण "नेमिनाथम्" तथा "बच्छमलाई"। अन्त में, यदि सांतवीं सदी में ही मदुराई के सारे जैनों को मार डाला होता जैसा कि हमने देखा तो आठवीं और नौवीं सदी में उसी क्षेत्र में जैनों का बाहुल्य न होता।

सत्य तो यह है कि एक सम्प्रदाय द्वारा विरोधी संप्रदाय को समाप्त करने की कथा का उन दिनों तामिल साहित्य में आना सामान्य बात थी। इन कहानियों का उद्देश्य एक सम्प्रदाय को दूसरे संप्रदाय के ऊपर अपनी श्रेष्ठता बतलानी होती थी। एक कहानी में कांची के एक जैन राजा ने बौद्धों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था और एक दूसरी कहानी में वैष्णवों के महान संत रामानुज ने होयमल्ल राजा विष्णु वर्धन को जैनों के विरुद्ध भड़काकर उनके साथ ऐसा ही व्यवहार किया। संत कथाओं को इतिहास मानना आवश्यक नहीं है।

कर्नाटक में नौवीं से सतरहवीं सदी

यह काल दिगम्बर संघ के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।इस लम्बी अवधि में दक्षिण भारत में जैन धर्म प्रमुख था और विशेषकर कर्नाटक में। जैन इस राज्य में महत्त्वपूर्ण राजकीय पदों पर आसीन थे। देश का अधिकांश व्यवसाय जैनों के हाथों में था। और इन सारे धनाढ्य लोगों ने अपने मंदिरों और धार्मिक स्थलों के निर्माण पर मुक्त हस्त से पैसा खर्च किया। जहाँ राजाओं ने अपना धन ऐलोरा और हलेविद् जैसे स्थानों पर हिन्दू मंदिर बनवाने में लगाया, जैनों की व्यापारिक श्रेणी के लोगों ने उसी क्षेत्र में बाहुबली की विशाल मूर्ति और बड़े-बड़े कीर्ति–स्तंभ तथा मंदिर बनवाये। पुरातत्व के अवशेषों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कर्नाटक का कुछ हिस्सा विशेषकर श्रवणबेलगोल के आसपास का क्षेत्र और कारकल पूर्णतया जैन क्षेत्र थे।

यही काल भट्टारकों का काल भी कहलाता है। भट्टारकों की तुलना मठों के महन्तों से की जा सकती है परन्तु जैनधर्म में मठ नहीं होते। अतः महन्तों के बदले भट्टारक वे व्यक्ति होते थे जो मंदिरों और राजाओं तथा धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा दान में दी गई जमीन जायदाद का प्रबन्ध किया करते थे। यद्यपि ये लौकिक कार्य थे परन्तु भट्टारक धार्मिक व्यक्ति हुआ करते थे। वास्तव में वे समाज के धार्मिक नेता थे। श्वेताम्बरों में इस प्रकार का नेतृत्व साधुओं द्वारा दिया जाता है परन्तु दिगम्बरों में नग्न रहने का नियम अत्यन्त कठोर होने के कारण बहुत कम लोग साधु हो पाते हैं और तब

भट्टारकों को आवश्यक रूप से धार्मिक नेतृत्व संभालना पड़ता है। भट्टारकों का अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है समाज के लोगों को विभिन्न स्थानों की यात्रा करवाना। भट्टारक पक्के मुनि या साधु नहीं हैं इसलिए वे नग्न नहीं घूमते जैसा कि दिगम्बर साधुओं को रहना पड़ता है। एक कथा के अनुसार सुलतान फिरोजशाह तुगलक (1351 से 1388 ईसवी) ने कुछ दिगम्बर जैन साधुओं को आमंत्रित किया और अपने दरबार और महल में उनकी आवभगत की। साधुओं के प्रमुख की प्रसिद्धि और विद्वता की बात सुनकर सुलतान की बेगम ने उन्हें देखना चाहा। जब वे बेगम के सामने आये तो साधु ने अपनी नग्नता छुपाने के लिए एक कपड़े का प्रयोग किया। यद्यपि अपने इस अनावश्यक अतिचार के लिए उसने प्रायश्चित भी किया परन्तु उसके द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करने पर उसके अनुयायियों ने भी उसे मान लिया। उस समय से एक नया संप्रदाय यतियों का—भट्टारकों का दिगम्बरों में प्रारंभ हो गया। इस कहानी का कोई भी ऐतिहासिक आधार नहीं है क्योंकि नौवीं सदी के वीरसेन के ग्रन्थ "षटखंडागम टीका" में भट्टारक का उल्लेख है। परन्तु यह परिपाटी बहुत पहिले प्रारंभ हो गई होगी क्योंकि पाँचवीं सदी के शिलालेखों में हम जैन मंदिरों को भूमि का दान देने का उल्लेख पाते हैं। अतः इन सम्पत्तियों के प्रबन्ध के लिए कोई न कोई व्यक्ति अवश्य रहा होगा।

इस अवधि में दिगम्बर जैन समाज कई संघों और गणों में विभाजित था। सेन गण और बलातकार गण—अपने आप को मूल संघ बतलाते हैं। उसी प्रकार मथुरा, लाड बागड़ और नन्दीतात गण अपने आप को काष्ठा संघ का बतलाते हैं। काष्ठा संघ की स्थापना ईसवी 697 में नन्दीताता (महाराष्ट्र में आज का नान्देड) में कुमारसेन द्वारा की जाना बतलाया जाता है। दूसरी तरफ इन चार गणों के 12 वीं सदी से पूर्व के प्रलेख यह नहीं बतलाते कि उनका काष्ठ संघ से कोई सम्बन्ध भी था। अतः यह कल्पना की गई है कि संभवतः इन चार गणों के सम्मिलित हो जाने से ही संघ का निर्माण हुआ है।

ये सारे अनुमान अल्प महत्त्व के हैं क्योंकि एक गण और दूसरे गण में विशेष फर्क नहीं है। जब हम विभिन्न गणों और संघों के विश्वासों में अन्तर को खोजते हैं तो ऐसा लगता है कि यह अंतर साधुओं द्वारा काम में ली जाने वाली पिच्छि के अन्तर के अलावा कोई अंतर नहीं है। जबकि सेनगण और बलातकारगण अपनी पिच्छियों के लिए मोर पख का प्रयोग बतलाते हैं, लाडबागड़ और नन्दीताता चामर (याक की पूँछ) का प्रयोग बतलाते हैं। इसके विपरित मथुरा गण कोई पिच्छी काम में ही नहीं लेते। शुब्रिंग ने, एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह बतलाया है कि काष्ठा संघ स्त्रियों को दीक्षा देने की अनुमति देता है। संभवतः इसी ने उत्तर भारत के जैनों की पद्धति को बदला है क्योंकि उत्तर भारत के जैन आज भी स्त्रियों को साध्वी बनने की अनुमति देते हैं। साध्वियाँ एक लम्बा श्वेत वस्त्र साड़ी की तरह का पहनती है। एक दिगम्बर साध्वी इस जीवन में मोक्ष प्राप्त

करने की आशा नहीं रखती। वह अपने धार्मिक जीवन के फलस्वरूप स्वर्ग में जाने तक की आशा रखती है। जब स्वर्ग की अवधि समाप्त हो जाती है, उसे पुरुष की तरह उत्पन्न होना होता है। तब ही वो मोक्ष के लिए प्रयत्न कर सकती है।

राष्ट्रकूट

राष्ट्रकूटों ने आठवीं सदी के बीच से लेकर दो सदियों तक भारत के मध्य भाग में एक विस्तृत क्षेत्र में राज्य किया। उनमें विद्वता के संरक्षकों में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था अमोघवर्ष नृपतुंग (815-877 ईसवी) । वह स्वयं विद्वान था और उसने काव्य शास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। उसका एक उपनाम "अतिशयधवल" था। इन्हीं दिनों जिनसेन ने "आदि पुराण" लिखा। षट्खंडागम के कुछ अंशों का भाष्य शायद इन्हीं दिनों लिखा गया। यह भाष्य "जयधवला" के नाम से जाना जाता है।

'यह अमोघवर्ष के समय की बात है कि उग्रादित्य ने औषधियों पर एक पुस्तक "कल्याणकारक" लिखी। यह संस्कृत का एक बहुत ही बड़ा ग्रन्थ है जिसमें 8000 श्लोक है। उग्रादित्य का कथन है कि मूल ग्रन्थ का लेखक पूज्यपाद है और उसने तो उसे केवल संशोधित और विस्तृत किया है। यह पूज्यपाद कौन है, स्पष्ट नहीं है। प्रसिद्ध पूज्यपाद औषधियों के लेखक की तरह नहीं जाना जाता।

उग्रादित्य ने पुस्तक को आठ खण्डों में विभक्त किया है जो कि उस समय के अन्य आयुर्वेदिक ग्रन्थों के समान है। जो भी हो, उसका मुख्य प्रयत्न औषधियों में से मांस और उसके समान अन्य पशुओं से बनने वाली खाद्य सामग्री और सभी प्रकार के मादक द्रव्यों को निकालना था। दूसरे शब्दों में इनमें केवल वे ही दवाइयाँ हैं जो एक जैन सुगमता से ले सके। लेखक ने अपनी पुस्तक में अग्निवेश, कश्यप और चरक का संदर्भ दिया है परन्तु उसमें सुश्रुत अथवा नागार्जुन का कहीं उल्लेख नहीं किया। पारा और दूसरे धातु "कल्याणकारक" की औषधियों के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। यह सम्भवतः अरबों का प्रभाव था क्योंकि पुराने भारतीय ग्रन्थों में पारे और अन्य धातुओं को औषधी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माना है।

इन्हीं दिनों एक अन्य विद्वान जैनगणितज्ञ महावीर आचार्य का उन्नयन हुआ जिन्होंने अपनी पुस्तक "गणित सारसंग्रह" ईसवी 850 में लिखी महावीर ने Number of Combinations of 'n' things taken'r' at a time की गणना के नियम (समस्या संख्या VI, 218) का आविष्कार किया। इसको आधुनिक अंकों में इस प्रकार लिखा जा सकता है $^{n}C_{r} = \frac{n!}{r!(n-r)!}$ यह निश्चित नहीं है कि यह महावीर की खोज थी क्योंकि महावीर ने कभी भी अपने पूर्व के गणितज्ञों के संदर्भ नही दिये हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मगुप्त का भी नहीं जबकि Cyclic-quadrilateral के क्षेत्रफल निकालने के प्रसिद्ध नियम का वह उल्लेख करता है।

इस काल की एक बड़ी गणित की खोज बड़ी संख्याओं की गणना में लोगरीदम् के प्रयोग की थी। यह लोगरीदम् 2,3 और 4 को आधार मानकर बनाये गये थे। लोगरीदमस प्रयोग का पहला संदर्भ ऊपर उल्लेखित धवला के भाष्य में आता है। बड़ी संख्याओं की गणना की सुविधा के लिए जो कि जैन विश्व विज्ञान में आते हैं, लोगरीदम् का प्रयोग कम से कम 100 वर्षों तक चलता रहा क्योंकि दसवीं सदी के अन्त में नेमीचन्द्र ने लोगरीदमस के नियम का उल्लेख किया है। जिसे वह अर्द्धच्छेद कहता है अर्थात 2 को आधार मानकर लोगरीदमस, यथा गुणक का अर्द्धच्छेद और गुण्य का अर्द्धच्छेद का योग गुणनफल का अर्द्धच्छेद है "(त्रिलोकसार गाथा) (105) अर्थात् आधुनिक अंकों में इस प्रकार होगा — Log A + Log B = Log2 A × B

पश्चात्वर्ती गंग

कर्नाटक में गंग राज्य की बाद की शताब्दियों में हम जैनों की भौतिक उन्नति का साक्ष्य पाते हैं। शिलालेखों से पता चलता है कि ये शासक जैनों के संरक्षक थे और अनेक मंदिरों को दान दिया करते थे। निश्चय ही इनमें से कुछ जैन बन गये होंगे। ये थे नीति मार्ग प्रथम (853-870 ईसवीं) नीति मार्ग द्वितीय (907-935 ईसवीं), मारसिंह तृतीय (960-974), मारसिंह तृतीय ही ने मृत्युपर्यन्त अन्न-जल त्याग कर संलेखना ली। अजीत सैन भट्टारक की उपस्थिति में 974 ईसवी में उनकी संलेखना से मृत्यु हुई।

गग शासकों के कुछ मंत्री और सेनापति भी जैन भक्त थे। और काफी धन राशि मंदिरों और अन्य कलात्मक स्मारकों पर व्यय करते थे। श्रवणबेलगोल में बाहुबली की 17 मीटर ऊँची मूर्ति 983 ईसवी में चामुण्डराय ने बनवाई थी। चामुण्डराय गंग वंश के राजा राचमल्ल के मत्री और सेनापति थे।

प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान नेमीचन्द्र इस मंत्री का मित्र था। नेमीचन्द्र के तीन ग्रंथ अब भी काफी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये हैं, त्रिलोकसार, लब्धिसार, तथा गोम्मटसार। पहला ग्रन्थ जैन विश्व विज्ञान का है। नेमीचन्द्र ने इस पुस्तक को लिखने में एक गणितज्ञ की प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। दूसरे दो ग्रन्थ जैन दर्शन के हैं। इन तीन ग्रन्थों का जयपुर के टोडरमल ने 18 वीं सदी में हिन्दी गद्य में अनुवाद किया था। गंग शासकों ने चौथी सदी से दसवीं सदी तक दक्षिण कर्नाटक पर राज्य किया। इन सारी अवधि में वे जैनों के सहायक बने रहे।

होयसाल्ल

12 वीं सदी में होयसाल्ल वंश की स्थापना के साथ ही कर्नाटक ने अपनी कला के गौरवमय काल में प्रवेश किया। होयसाल्ल की राजधानी दोरासमुन्द्र में थी। विष्णुवर्धन (1111-52 ईसवी) तथा उनके पौत्र वीर बल्लाल द्वितीय के अधीन वे अत्यधिक शक्तिशाली बन गये। इस वंश का अंतिम उल्लेखनीय राजा वीर बल्लाल तृतीय था। अल्लाउद्दीन खिलजी के सेनापति काफूर से उसकी हार हुई थी और सन् 1342 में वह समाप्त ही हो गया।

होयसल्ल राजाओं ने दक्षिण कर्नाटक में कई सुन्दर मंदिर बनवाये हैं। ये मंदिर भारतीय कला के गौरव हैं। जबकि राजाओं ने शैव और वैष्णम मत के मंदिरों का निर्माण करवाया उनके मंत्रियों और जनता के प्रमुख व्यापारियों ने जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया। होयसल्ला वंश के सबसे महान् विष्णुवर्धन के सेनापति और मंत्री गंगराजा ने, मैसूर के नजदीक, चापराजनगर में एक पार्श्वनाथ बासडी (बासडी का कर्नाटक में तात्पर्य मंदिर से है) का निर्माण करवाया। गंगराजा ने श्रवणबेलगोल में बाहुबली की मूर्ति के चारों ओर का आहाता भी बनवाया। 1116 ईसवी में होयसल्ला वंश की तीन पीढ़ियों के कोषाध्यक्ष अर्थात् भंडारी हुल्ल ने श्रवणबेलगोल में ही चतुरविशती जैनालय (जो भंडारी बासडी नाम से भी प्रसिद्ध है) बनवाया। इसी के आसपास एक और बासडी वीर बल्लभ जैनालय है जो किसी व्यापारी ने सन् 1176 में होयसल्ला के राजा वीर बल्लाल द्वितीय की स्मृति में बनवाया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये सारे वंश, जिन्होंने कर्नाटक पर शासन किया, जैनों के मित्र थे। शुब्रिंग ने सारी स्थिति को संक्षिप्त में इस प्रकार रखा है, "काफी संख्या में गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य और होयसल्ला वंशों के व्यक्तियों और उनके वंशजों ने अपने आपको जैनों का मित्र साबित किया है। और भारतीय राजाओं की धार्मिक मामले में सूझबूझ को ध्यान में रखते हुए हमें जैनों की राजनैतिक जीवन में भूमिका के बारे में अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। और इस सम्बन्ध में उनके जैन धर्म में प्रवृत्त होने की बात कहना शायद अतिशयोक्ति होगी। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अधिकांश मामलों में कई बार विवेक स्वरूप ये शासक सम्पन्न लोगों के इतने प्रभावशाली धर्म को मान्यता देते थे।" शुब्रिंग का अनुमान साधारणतया ठीक है। कुछ बाद के गंग राजाओं ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। परन्तु जब शुब्रिंग ने सन् 1934 में अपनी पुस्तक लिखी उसके पास इसका साक्ष्य उपलब्ध नहीं था।

विजयनगर साम्राज्य

अन्य बातों के साथ, यह साम्राज्य ब्राह्मण शिक्षा के पुनर्जन्म के लिए जाना जाता है। परन्तु यदि साम्राज्य भर में फैले हुए वर्तमान स्मारकों को देखा जाय तो यह काल जैनों द्वारा भवन निर्माण का महान् काल था।

जैनों के बीच महान् निर्माण की यह हलचल इसलिए थी कि कर्नाटक की प्रमुख वणिक जाति, वीर वनजीय जैन हो गये थे। सालतारे लिखता है "कर्नाटक में जैन धर्म के उच्च पदासीन होने के कारणों का सही उत्तर है—वाणिज्यिक जाति के लोगों की भक्ति और उत्साह" पुनः वह लिखता है "वीर वनजीय जो अथाह धन के पारम्परिक स्वामी थे, की सहायता से जैन साधुओं ने, भव्य जिनालयों और मूर्तियों का निर्माण करवाया"।

यदि हम इस काल को दसवीं से प्रारम्भिक सतरहवी सदी तक मानें तो [illegible] पाते हैं कि इस अवधि के पूर्वार्द्ध में जैनों के भवन निर्माण कार्य का केन्द्र श्रवणबेल[illegible]

था। परन्तु इसके उत्तरार्द्ध में यह केन्द्र कारकल के पश्चिम में समुद्र तट के करीब स्थित मैंगलौर के नजदीक हो गया।

एक शक्तिशाली जैन परिवार भैरारासा बोडियार (जिसका अब कोई प्रतिनिधि नहीं रहा) की राजधानी कारकल थी। गोम्मट देव (अथवा बाहुबली) की दूसरी सबसे बड़ी मूर्ति करीब 12.5 मीटर ऊंची 1431 ईसवीं में यहीं बनी थी। इसका निर्माण वीर पाण्डया भैरारासा बोडियार ने करवाया था। हलेनागाडी में जिले का सबसे सुन्दर जैन स्तम्भ है। इसमें केवल एक ही पत्थर का 33 फुट (10 मीटर का) ऊंचा स्तम्भ है। जो आठ भागों में बँटा है। प्रत्येक भाग को सुन्दर और कलापूर्ण ढँग से भिन्न —भिन्न प्रकार से सजाया गया है। यह स्तंभ एक भव्य कोर्निश को सहारा देता है जिस पर एक मूर्तियुक्त पाषाण मंदिर है।इसकी कुल ऊँचाई 50 फीट (15 मीटर) है।

दूसरी बहुत बड़ी बाहुबली की मूर्ति येनूर (अथवा वेनूर) में बनवाई गई थी। जो अब मैंगलोर तालुके का गाँव है। यह मूर्ति 37 फुट (11.1 मीटर) ऊँची है। और 1603 ईसवीं में बनाई गई थी। उस समय यह स्थान काफी महत्त्वपूर्ण रहा होगा क्योंकि इस मूर्ति के अलावा यहाँ और अनेकों जैन भग्नावशेष हैं।

परन्तु जो स्थान 13वीं सदी से प्रारंभिक 17वीं सदी के बीच दक्षिण भारत में जैन धर्म का केन्द्र बना वह है काराकल से 16 कि.मी.दूर मूडाबिद्री। यह स्थान इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसे जैनों की काशी कहते हैं। यह जैन केन्द्र 714 ईसवी के आसपास प्रारंभ हुआ था जबकि एक सन्त श्रवणबेलगोल से यहाँ आये और उन्होंने पहिला जैन मंदिर पार्श्वनाथ बासडी का निर्माण करवाया। ईसवी 1220 के बाद इस स्थान का महत्त्व बढ़ गया जबकि श्रवणबेलगोल से एक प्रसिद्ध आचार्य चारुकीर्ति पंडिताचार्य यहाँ आये। उस समय से लेकर 17वीं सदी के प्रारंभ तक यह सारा क्षेत्र जैनों द्वारा बडे पैमाने पर निर्माण का कार्यक्षेत्र रहा। शिल्प की शैली भी विशिष्ट थी। फर्ग्युसन की टिप्पणी के अनुसार "जब हम घाट उतर कर कन्नड अथवा तुलवा प्रदेश में आते हैं तो यहाँ की हर बात बिल्कुल भिन्न है। इस प्रदेश का धर्म जैन है तथा सभी अथवा करीब-करीब सभी मंदिर उसी धर्म के है परन्तु उनका स्थापत्य न तो दक्षिण की द्रविड शैली का है और न ही उत्तर भारतीय तथा वास्तव में भारत में कहीं भी अस्तित्व में होना नहीं पाया जाता परन्तु अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ नेपाल में पाया जाता है।"

"ये मंदिर साधारणतया हिन्दू मंदिरों से ज्यादा सादे हैं। उनके खभे लकड़ी के लट्ठों की तरह है और उनके एंगल थोड़े से छिले हुए होते हैं जिससे वे अष्टकोण के हो जाते हैं तथा उनके ढालू बरामदों की छतें इतनी अधिक लकड़ी की प्रतीत होती है कि इनकी शैली मूल लकड़ी की छत से ज्यादा भिन्न नहीं लगती।"

उत्तरी शैली (नेपाल) से सबसे अधिक साम्यता जिस बात में है वह है बरामदों के ऊपर लगे हुए छज्जो के विपरीत ढाल। मेरी जानकारी मे नेपाल के दक्षिण में ऐसी

शैली कहीं भी नहीं है और यह इतनी विशिष्ट है कि लगता है इसके पुनः आविष्कार से, इसके नकल किये जाने की संभावना काफी अधिक है।

मूडबिद्री और उसके आसपास के क्षेत्र में अधिकांश जैन धार्मिक भवन क्षेत्र के धनाढ्य व्यापारियों ने बनवाये थे। हजार स्तम्भों वाली बासडी या मंदिर, जो "त्रिभुवन तिलकचूडामणि" के नाम से प्रसिद्ध है सन् 1430 में जैन व्यापारियों (सेट्टियों) के समूह ने बनवाया और यह दक्षिण भारत का सबसे भव्य जैन मंदिर है।

मूडबिद्री के मंदिर शीघ्र ही जैन धर्म के साहित्य के रखवाले हो गये। वास्तव में धवला और जय धवला के भाष्य यहाँ केवल सिद्धान्तः बासडी में ही पाये गये थे।

जैसे–जैसे मुडाबिद्री करकाला क्षेत्र जो तुलु प्रदेश के नाम से भी जाना जाता है—ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता गया, शेष दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रभाव कम होता गया। इसका एक कारण विजयनगर साम्राज्य के राजाओं द्वारा ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान था। विजयनगर के राजा जैनों के विरुद्ध नहीं थे। वास्तव में जब भी कोई दीवानी विवाद जैनों और दूसरों के बीच होता था तो राजा हमेशा निष्पक्ष रहते थे। सालतारे दो मामलों के उद्धरण देते हैं— एक 1363 ईसवी का और दूसरा 1368 ईसवी का जबकि दो विरोधी जैन गुटों और अजैनों के बीच हुए झगड़े को विजयनगर के राजाओं ने आपसी समझौते से निपटवा दिया था। यह समझौते पत्थर के शिलालेखों पर अंकित हैं। इस प्रकार जैनों की अवनति का कारण राजाओं की प्रतिकूलता नहीं है। इसके कारण कहीं अन्यत्र देखने पड़ेंगे।

दक्षिण भारत के सभी स्थानों में से एक कर्नाटक ही ऐसा था जहाँ जैन धर्म का सबसे अधिक प्रभाव था। वहाँ दो बातें ऐसी हुईं जिससे कुछ सदियों में ही जैन धर्म का प्रभाव क्षेत्र के अधिकांश भाग में घट गया और अन्त में 16 वीं सदी तक इसका प्रभुत्व एक कोने में ही सिमट कर रह गया। (कारकल और मूडाबिद्री आदि के आसपास के तुल्व प्रदेश में) इनमें से प्रथम कारण था बारहवीं सदी में बासवा के नेतृत्व में वीर शैव या लिगायत धर्म का उत्थान। बासवा स्वयं एक मंत्री था और उसने कई स्थानीय प्रमुखों जैसे कुर्ग के शासक सन्तरास आदि को वीर शैव धर्म में परिवर्तित कर लिया था।

दूसरा और संभवतः निर्णायक कारण था प्रमुख व्यापारिक जाति वीर बनजीय का जैन धर्म के बदले वीर शैवमत धर्म का अंगीकार करना। इस एक बात से ही जैन धर्म के मुख्य संरक्षक विरोधी धर्म के हो गये। इसके अलावा भी आचार्यों के काल के बाद अर्थात् नौवीं सदी की समाप्ति के बाद, कर्नाटक में कोई ऐसे अद्वितीय जैन नेता नहीं थे जो इस जाति के बौद्धिक जीवन को नया मोड़ दे पाते।

इस प्रकार दक्षिण भारत में जैन धर्म धीरे–धीरे लुप्त हो गया, कुछ छोटे–छोटे स्थानों पर भक्तों के समूह को छोड़ कर, जो स्थान किसी समय में धर्म के महान केन्द्र थे। उदाहरणार्थ (ये स्थान है) श्रवण बेलगोल और मूडबिद्री। आज तक उन स्थानों में

जैन धर्म के कुछ समूह बचे हुए हैं। जहाँ तक दूसरी फैली हुई जैन जनसंख्या थी उनमें से जो धनवान थे उन्होंने कोई न कोई ब्राह्मण धर्म जैसे वैष्णव या शैव मत अपना लिया होगा और गरीबों ने खेतीबाड़ी शुरू कर दी और इस प्रकार महत्त्वहीन हो गए। उनमें सगोत्र विवाह का प्रचलन है और ये उत्तर भारत के जैनों से शादी ब्याह नहीं करते। ये सभी दिगम्बर हैं और चार मुख्य जातियों में विभक्त है : सेतावला (कर्नाटक में नहीं पाये जाते) चतुर्थ, पंचम और बोगरा या कसारा तथा तीन छोटी जातियाँ उपाध्याय, कम्बोज तथा हरडा। उनके पुरोहित ब्राह्मण हैं।

"दक्षिण की चार प्रमुख जातियों में प्रत्येक का नेतृत्व उनके आध्यात्मिक नेता (भट्टारक) करते हैं जिनका स्थान साधुओं और गृहस्थों के बीच का होता है— और जो जातियों के आपसी विवादों को मिटा सकते हैं और किसी को भी यदि आवश्यक समझते हैं तो जाति बाहर कर सकते हैं। "चतुर्थ मुख्यतया कृषक है, सेतावला भी या तो कृषक हैं या दर्जी, कसारा अथवा बोगरा ठठेरे हैं तथा पंचम जाति वाले इनमें से कोई भी धन्धा अपना सकते हैं।

उत्तर भारत के दिगम्बर

अनेक शिलालेख एवं धार्मिक ग्रन्थ जो कि दक्षिण भारत में पाये गये हैं, के कारण दिगम्बर जैनों का इतिहास पाँचवीं से सत्तरहवीं सदी तक लगातार खोजा जा सकता है परन्तु इसी अवधि में उत्तर भारत में दिगम्बर जातियों के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है तीर्थंकरों की अधिकतर मूर्तियाँ जो उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में चौथी व पाँचवी सदी की पाई गई हैं वे नग्न हैं। आज भी इस क्षेत्र के अधिकतर जैन दिगम्बर हैं। इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं जब भी संघ में बड़ी विभक्ति हुई तब यह प्रक्रिया काफी धीमी रही होगी। उत्तर भारत के जैनों ने अपने आपको दिगम्बर पाया होगा। बाद के स्मारकों से भी इस दृष्टिकोण को बल मिलता है कि उत्तर पूर्वी मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा के जैन भी दिगम्बर थे। पूर्व में इस बात का उल्लेख भी हुआ है कि बिहार में बाहरवीं सदी और तेहरवीं सदी व 11 वीं से 15 वीं सदी में पाई गई मूर्तियाँ दिगम्बर थीं। इन सब में महत्त्वपूर्ण खजुराहो के जैन मन्दिरों का समूह है (10 वीं–11 वीं सदी)। ये सारे दिगम्बर मन्दिर हैं और बुन्देलखण्ड के चन्देल राजपूत राजाओं की राजधानी के रहने वाले धनी व्यापारियों द्वारा बनवाये गये होंगे। इस समूह में एक पार्श्वनाथ का है जिसकी तुलना इसी स्थान के सुप्रसिद्ध कन्द महादेव के मन्दिर से की जाती है। दूसरा महत्त्वपूर्ण दिगम्बर मन्दिरों का समूह झाँसी जिले में देवगढ में है। लगता है कि बुन्देलखण्ड के जैन व्यापारियों का भी चन्देल राजा उतना ही ध्यान रखते थे जितना की कर्नाटक के राजा।

कुछ दिगम्बर शिलालेख जो ग्वालियर में पाये गये हैं, काफी टूटे–फूटे हैं और कोई विशेष सूचना नहीं देते ।

खजुराहो की तरह ही चित्तौड़गढ भी बारहवी और तेरहवीं सदी में दिगम्बरों का शक्तिशाली केन्द्र था। यह बात यहाँ पाये गये अनेक जैन शिलालेखों से सिद्ध है।

इनमें से चार एक शाह जीजका के हैं। यह वह व्यक्ति था जिसने 1300 ईसवीं में चित्तौड़गढ़ में प्रसिद्ध कीर्ति–स्तम्भ बनवाया। शाह जीजका कुन्द-कुन्दन-व्यय से अपना सम्बन्ध होना बतलाते हैं। इससे साबित होता है कि स्तम्भ न केवल एक दिगम्बर व्यापारी ने बनवाया था परन्तु यह भी कि कुन्द-कुन्दन की वंशावली से अपने को जोड़ने की प्रथा, जो दक्षिण भारत में काफी प्रचलित थी, उत्तर भारत में तेरहवीं सदी में फैली। जो भी हो, यह तथ्य सही है कि उपलब्ध शिलालेखों के साक्ष्यों के आधार पर उत्तर भारत के दिगम्बरों का इतिहास बनाया जाना कठिन है। अब तक पाये गये शिलालेख बहुत ही कम हैं। पाँच भागों के "जैन शिलालेख संग्रह" नामक पुस्तक में जो कि एक दिगम्बर संग्रह है, में छठी शताब्दी के बाद उत्तर भारत से प्राप्त दिगम्बर शिलालेखों की संख्या 20 से अधिक नहीं होगी।

साहित्यिक स्रोत की भी काफी कमी है। दक्षिण भारत के विपरीत उत्तर भारत के दिगम्बरों ने कम से कम सत्तरहवीं सदी तक बहुत ही कम ग्रन्थों की रचना की है। पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत में सम्भवतः एक ही महत्त्वपूर्ण दिगम्बर लेखक हुआ है। यह हरिषेण था जिसने 931 ईसवीं में "वृहत् कथा कोष" लिखा है और जो गुजरात में रहता था। इस ग्रन्थ में उस काल के भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति के बारे में काफी सूचना उपलब्ध है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है हरिषेण के अनुसार श्वेताम्बर संघ का प्रारम्भ बल्लभी से हुआ है।

शिलालेखों और साहित्य के साक्ष्य के अभाव में उत्तर भारत के दिगम्बरों के इतिहास के पुनर्निर्माण हेतु पौराणिक गाथाओं को आधार बनाना पड़ता है।

एक बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है। श्वेताम्बरों के विपरीत दिगम्बर उत्तर भारत में छोटे-बड़े समूहों में विभक्त नहीं हुए। उनमें से अधिक "बीस–पन्थ" सम्प्रदाय के हैं। इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। सम्भवतः यह 13 वीं सदी में प्रारम्भ हुआ था। ग्लासेनाप (Glasenapp) लिखते हैं कि एक बसन्त कीर्ति का यह दृष्टिकोण था कि जब तक संत समताधारण में रहते हैं उन्हें एक कपड़ा पहनना चाहिये। इस दृष्टिकोण के मानने वाले विश्वपंथी कहलाये। यही बिगड़कर बीस–पंथी हो गया। इस पंथ के साधु एक भट्टारक के नेतृत्व में समूह में रहते हैं। ये तीर्थकरों की मूर्तियों को क्षेत्रपाल के साथ प्रतिष्ठित करते हैं जैसे भैरव और उन जैसे अन्य देवता। ये फल-फूल और खाद्य सामग्री से मूर्तियों की पूजा करते हैं।

बीस–पंथियों की उत्पत्ति जो कुछ भी हो, उनके धार्मिक क्रियाकलापों का जो वर्णन ऊपर दिया गया है वह अधिकांश में सही है। वास्तव में उत्तर भारत के दिगम्बर जैनों की अधिक संख्या इन्हीं प्रक्रियाओं को मानने वाली है। जैसे–जैसे समय बीतता गया भट्टारक जो कि मन्दिर और मठों की सम्पत्तियों का प्रबन्ध करते थे, अत्यधिक शक्तिशाली बन गये। क्षेत्रपाल (जो जैन देवताओं की तरह माने जाते थे।) देवताओं की लोकप्रियता बढ़ती गई। जैन धर्म जो कि इसकी प्रकृति से

शुद्धतावादी है, में ऐसी ढील होने से इसका प्रतिरोध होना अवश्यम्भावी था। इस प्रकार का आन्दोलन 17 वीं सदी के आसपास आगरा के क्षेत्र में प्रारम्भ हुआ। इस प्रतिरोध के नेताओं में से एक बनारसीदास जैन था। समय के साथ—साथ आन्दोलन सशक्त होता गया और इसका नाम तेरहपन्थी पड़ा। बख्तराम शाह के अनुसार, जो कि 18 वीं सदी का एक लेखक था और जो आन्दोलन के खिलाफ था, तेरह पंथ सम्प्रदाय की उत्पत्ति 18 वीं सदी के प्रारम्भ में जयपुर में सांगानेर के पास हुई मानी है। जैन सुधारवादी आन्दोलनों के साथ जैसा कि हमेशा होता आया है, तेरापन्थियों ने भी जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया। उनके सुधार क्रियाक्रर्म की छोटी-छोटी बातों से ही सम्बन्धित थे। उदाहरणार्थ, इस पंथ वाले यह विश्वास करते हैं कि रात्रि में मन्दिरों में पूजा नहीं करनी चाहिये, कि पूजा करते समय पूजा करने वाले को खड़ा रहना चाहिये न कि बैठना, कि पूजा में मूर्ति को केसर नहीं चढ़ाना चाहिये।

आगरा—जयपुर क्षेत्र से प्रारम्भ होकर तेरापंथ उत्तर भारत के सभी जैनों में फैल गया। जिन लोगों ने इस पंथ के दृष्टीकोण को नहीं अपनाया वे बीसपथी कहलाये। कौनसा मुख्य संघ है और कौन इसकी शाखा है—यह प्रश्न अब भी स्थायी रूप से विवादास्पद बना हुआ है।

18 वीं सदी में जयपुर में एक अत्यन्त विद्वान दिगम्बर जैन था। उसका नाम टोडरमल था। उसने कर्नाटक के नेमीचन्द के सभी वृहत् प्राकृत (10 वीं सदी) ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी ग्रन्थों की शैशवावस्था के उन दिनों में टोडरमल के लेख में ताजगी, स्पष्टता और गति है। टोडरमल तेरापंथी थे। उनके पुत्र गुमानी राम अपने धार्मिक विचारों में बहुत ही पुरातन पंथी थे। और उनके अनुसार तेरापंथ मूल शुद्ध धर्म तक नहीं जाता। अतः उसने एक नया संप्रदाय चलाया जो गुमानपंथ कहलाया। परन्तु जैसा कि अधिक पवित्रता वाले धर्म के साथ होता है, गुमानपंथ कभी भी लोकप्रिय नहीं हुआ। इसके अनुयायी संख्या में बहुत ही कम थे। इस संप्रदाय के कुछ मन्दिर, जयपुर शहर और उसके आसपास हैं जो बतलाते हैं कि यह संप्रदाय अब भी अस्तित्व में है।

यापनीय

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के अलावा पुराने समय में जैनों का एक और संप्रदाय था। यह संप्रदाय जो यापनीय कहलाता था, कर्नाटक में कम से कम 5वीं सदी से 14वीं सदी तक विद्यमान था। इसकी जानकारी हमें शिलालेखों के साक्ष्य से मिलती है। प्रथम और अन्तिम शिलालेख जो अब तक पाये गये है और जिनमें इनका वर्णन है वे इन्हीं सदियों के है और ये सारे शिलालेख कर्नाटक में पाये गये हैं।

पहिला शिलालेख जिसमें यापनियों के बारे में उल्लेख है पलासिका के कदम्ब राजा मृगशबर्मन (475 से 490 ईसवी) का है। कदम्ब स्वयं ब्राह्मण थे परन्तु इस राजा ने पलासिका के नगर में एक जैन मन्दिर का निर्माण किया तथा यपनीय, निगण्ठों और कुश्चकों को दान दिया (निगण्ठ तो निःसंदेह दिगम्बर ही थे परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ये कुश्चक कौन थे ?)

अन्तिम शिलालेख जिसमें यापनीयों के बारे में उल्लेख है तुलू प्रदेश में पाया गया था जो कर्नाटक के दक्षिण पश्चिम में है। इस पर शक तिथि 1316 (1394 ईसवी) पड़ी है।

इस प्रकार हमें ज्ञात है कि यह संप्रदाय कम से कम एक हजार वर्ष तक रहा। हम यह अन्दाज भी लगा सकते हैं कि यह अन्त में दिगम्बर संप्रदाय में समा गया। यापनीय अपने मन्दिरों में तीर्थकरों की नग्न मूर्तियों की पूजा करते थे। इनमें से कुछ मन्दिर मूर्तियों सहित अब भी विद्यमान हैं और जो लोग इनकी पूजा करते हैं वे दिगम्बर हैं। यापनीय साधुओं को भी नग्न ही रहना पड़ता था। संभवतः इसलिए इस संप्रदाय के विलीनीकरण में ज्यादा कठिनाई नहीं आई। विशेषकर इसलिये भी कि इनकी संख्या अत्यन्त ही कम रह गई थी।

यापनीय संप्रदाय किस प्रकार उत्पन्न हुआ इसके बारे में कुछ भी अधिकारपूर्वक ज्ञात नहीं है। अपने दर्शनसार में देवसेन लिखते हैं कि (ग्यारहवीं सदी के मध्य में) राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के 205 वर्षों बाद एक श्वेताम्बर साधु ने यह यापनीय संघ चलाया था। परन्तु चूंकि यह बात बहुत पुरानी भी हो गई है इस पर ज्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता। तब एक बात स्पष्ट है कि दिगम्बरों का विश्वास है कि यापनीय प्रारम्भ से ही श्वेताम्बरों से जुड़े हुए थे और दिगम्बर लेखक इन्द्रनन्दी ने उन्हें पांच गलत या मिथ्या सम्प्रदायों (जैन भाषा) में से एक गिनता है। इन पांचों में श्वेताम्बर भी शामिल थे।

दूसरी ओर श्वेताम्बर लेखक गुणरत्न (15वीं सदी) यह निश्चित तौर पर कहते हैं कि दिगम्बर चार संघों में विभक्त था अर्थात काष्ठा, मूल, माथुर तथा गोप्य या यापनीय अन्तिम गोप्य या यापनीय अन्य तीनों से तीन मामलों में भिन्न है। ये प्रणाम के समय "धर्म लाभ" शब्द का प्रयोग करते हैं जबकि अन्य तीन "धर्मवृद्धि" शब्द का। इनका विश्वास था कि केवली भोजन पर जिन्दा रहता है और इन्होंने स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त करने की अनुमति दे रखी थी। ये अन्तिम दो विश्वास अवश्य ही यापनीयों को श्वेताम्बरों के खेमें में डाल देते हैं। इसका परिणाम यह था कि न तो दिगम्बर और न श्वेताम्बर उन्हें अपनाने को तैयार थे। मोनियर विलियम्स "यापनीय" शब्द की व्याख्या यों करेंगे कि मूल "या" का तात्पर्य "निकालना" है। संभवत यापनिय वे लोग थे जिन्हें दोनों सम्प्रदायों ने बाहर कर दिया था और वे इधर उधर भटक गये थे।

यह स्पष्ट नहीं है कि क्या यापनीयों के अलग से कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ थे या नहीं। दिगम्बर लेखक हरिभद्र के द्वारा यापनीय तंत्र का उल्लेख किया गया है। परन्तु आज ऐसा कोई तन्त्र पाया नहीं जाता। संभवत धार्मिक उद्देश्य से यापनीय श्वेताम्बर धार्मिक ग्रन्थों का प्रयोग करते हैं क्योंकि इन ग्रन्थों में उनके मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ भी नहीं है। अब तो यापनीय केवल ऐतिहासिक जिज्ञासा की बात रह गये हैं। वास्तव में इनके एक महान व्याकरणाचार्य शाकटायन के अलावा उन्हें याद करने का कोई कारण नहीं है कि शकटायन जो राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष (817-877) का समकालीन था एक यापनीय था। यह बात हमें मलयगिरी के नन्दीसूत्र के भाष्य में लिखी टिप्पणी से ज्ञात होती है।

शाकटायन के "शब्दानुशासन" पर लिखे गये उपलब्ध "भाष्य" सभी दिगम्बर लेखकों द्वारा लिखे गये हैं जिन्होंने इस व्याकरण को अपना समझ लिया है। दूसरी ओर दो और पुस्तकें "स्त्री मुक्ति प्रकरण" और "केवली भुक्ति प्रकरण " जो शाकटायन द्वारा रचित मानी जाती हैं, श्वेताम्बर संग्रहों में ही पाई जाती है। इस प्रकार जब शाकटायन का एक ग्रन्थ दिगम्बरों द्वारा मान्य है उसके दो अन्य ग्रन्थ केवल श्वेताम्बरों द्वारा ही मान्य हैं। स्मरण रहे कि ऐसी ही कुछ स्थिति उमास्वामी या उमास्वाति की है। जबकि दोनों ही जैन संप्रदाय उनके महान ग्रन्थ "तत्वार्थधिगम" को मानते हैं। लेखक द्वारा रचित इस पुस्तक के भाष्य को केवल श्वेताम्बर ही मान्यता देते हैं। इसी आधार पर नाथूराम प्रेमी यह अन्दाज लगाते हैं कि उमास्वामी भी यापनीय था क्योंकि इसके अलावा प्रेमी के इस अनुमान का कोई आधार नहीं है।

अध्याय -10

श्वेताम्बर

श्वेताम्बरों का एक स्वतंत्र धार्मिक संगठन की तरह विकास, वल्लभी सम्मेलन के बाद ही हुआ। यह सम्मेलन महावीर के निर्वाण के 900 (या 993) वर्ष बाद (5वीं सदी के मध्य में), धार्मिक ग्रन्थों के संकलन और उन्हें लिखित रूप में परिवर्तित करने के उद्देश्य से हुआ था। इसका सभापतित्व देवर्धि क्षमाश्रमण ने किया था। इस काल की उपलब्धि एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भद्रबाहु के कल्पसूत्र को पूर्ण करना था। सारा का सारा कल्पसूत्र भद्रबाहु द्वारा रचित नहीं है, जो महावीर के 170 वर्ष स्वर्गस्थ हो गये थे। कल्पसूत्र के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में जिन चरित्र है–जिनों की जीवनी। इस भाग का प्रमुख अंश है - महावीर की जीवनी। दूसरे भाग में थेरावली है, धर्माचार्यों की सूची, उनके गणों के नाम, उनकी शाखायें और उस गण के प्रमुखों के नाम। इस सूची में देवर्धि तक धर्माचार्यों के नाम हैं जो भद्रबाहु के बाद 30वीं पीढ़ी में हुए। इससे स्पष्ट है कि यह सूची भद्रबाहु द्वारा संकलित नहीं है। कल्पसूत्र के तीसरे भाग में सदाचारी अर्थात् साधुओं के लिये नियम हैं– वर्षा ऋतु (पर्यूषण) के नियम।

यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कल्पसूत्र का सबसे पुराना भाग है - जो भद्रबाहु द्वारा रचित है। वस्तुतः कल्पसूत्र का पूर्ण नाम पज्जोसनकप्पा है यद्यपि यह नाम तीसरे भाग के लिये ही ज्यादा उपयुक्त है। दूसरे दो भाग, परम्परा के अनुसार बाद में देर्वधि ने बढ़ाये हैं।

जहाँ तक एक साधारण श्वेताम्बर का प्रश्न है, कल्पसूत्र उसके लिये सबसे पवित्र धर्म ग्रन्थ है। इसकी उसी प्रकार उपासना की जाती है जिस प्रकार एक सामान्य हिन्दू द्वारा भगवद् गीता की। कल्पसूत्र अपने वर्तमान स्वरूप में श्वेताम्बर संघ का प्रथम धर्म ग्रन्थ है जो दिगम्बरों को मान्य नहीं है।

जैनों के पुराने साहित्य के बारे में जैसे महावीर और उनके प्रमुख गणधरों की वाणियाँ वल्लभी सम्मेलन ने, जो भी उन्हें लगा कि प्रमाणित रूप से उपलब्ध है, उसे लिपिबद्ध कर लिया। ये श्वेताम्बरों के धर्म शास्त्र हैं। ये अंग, उपांग आदि कहलाते हैं और कुल 45 हैं। दिगम्बर इन्हें न तो प्रमाणित मानते हैं और न धर्मशास्त्र ही परन्तु पूरी तरह इन्हें अस्वीकार भी नहीं करते।

महावीर के निर्वाण और वल्लभी सम्मेलन होने के बीच की दस सदियों में, कई विद्वानों ने अंग, उपांगों पर भाष्य लिखे। ये भाष्य निज्जयुति अथवा निर्युक्ति कहलाते हैं। ये सारे भाष्य आवश्यक रूप से श्वेताम्बर साहित्य ही माना जावेगा। यही

हाल उस सारे जैन साहित्य का है जो दिगम्बरों को मान्य नहीं है। एक उदाहरण उमास्वाति या उमास्वामी के अपनी स्वयं की पुस्तक "तत्वार्थाधिगम सूत्र" पर लिखा गया भाष्य है। जबकि मूल ग्रन्थ का लेखन दोनों सम्प्रदायों को मान्य है, लेखक का स्वयं का भाष्य दिगम्बर अस्वीकार करते हैं। एक दूसरा तरीका श्वेताम्बर ग्रन्थ को पहिचानने का है इसका नाम। यह प्रणाली केवल पौराणिक ग्रन्थों पर ही लागू होती है। जबकि श्वेताम्बर पौराणिक गाथाओं कों चरिय अथवा चरित कहते है, दिगम्बर उन्हें "पुराण" कहते हैं। इस प्रकार विमल सूरी का राम का महाकाव्य "पउमचरिय" श्वेताम्बर ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसकी रचना महावीर के निर्वाण के 530 वर्षो बाद हुई थी अर्थात् 4 ईसवी के आसपास। जो भी हो, थोड़े बहुत फर्क के अलावा, महाकाव्य के दोनों प्रकारों में कहानियां एक समान ही हैं। दूसरे शब्दों में, नामों को छोड़कर, यह कहना कठिन होगा कि यह महाकाव्य किस सम्प्रदाय का है।

श्वेताम्बर साधुओं ने छठी और नौ वीं सदी के बीच अनेकों भाष्य लिखे। ये बाद के भाष्य चूर्णी कहलाये। नन्दी सूत्र पर एक चूर्णी जो नन्दी चूर्णी कहलाती है - में उल्लेख है कि मथुरा में भी एक सम्मेलन हुआ था। यह चूर्णी शक संवत् 598 अर्थात् 676 ईसवी में पूर्ण हुई थी यानी वल्लभी सम्मेलन के बाद। मथुरा सम्मेलन का सभापतित्व स्कन्दिल ने किया था। उनका नाम कल्पसूत्र के स्थविरों की सूची में नहीं आता परन्तु कल्पसूत्र के अनुवाद में जेकोबी लिखता है कि यह शाण्डिल्य हो सकता है जिसका उल्लेख स्थविरों की सूची में 33वें क्रमांक पर है।

यह स्पष्ट नहीं है कि मथुरा सम्मेलन के क्या परिणाम रहे। सम्भवतः सम्मेलन किसी अन्तिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका।

इस सदी की दूसरी महत्त्वपूर्ण चूर्णी है जिनदासगणी की "आवश्यक सूत्र की चूर्णी "। इसमें महावीर स्वामी की 12 .5 वर्ष की यात्राओं का विशद वर्णन है जो उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व की थी। जिनदासगणी ने ये सारे तथ्य पूर्व के किसी विश्वसनीय स्रोत से प्राप्त किये होंगे क्योंकि उनका महावीर की यात्राओं का वर्णन करीब-करीब प्रामाणिक माना जाता है।

पाँचवीं और छठी सदी के बीच एक महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई — वह यह कि भारतीय इतिहास के गुप्त काल में जैन मूर्तिकला का मानकीकरण हुआ। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के लिये मूर्तिकला समान ही है सिवाय इस तथ्य के कि तीर्थंकरों की दिगम्बर मूर्तियों के वस्त्र या अलंकार नहीं होते। इन मूर्तियों के लिये दो आसनों का मानकीकरण किया गया, एक खड़ी जो "कायोत्सर्ग" और दूसरी बैठी हुई जो "योगासन" कहलाती है। उत्तर भारत की सभी तीर्थंकर मूर्तियों के सीने पर "श्रीवत्स" के निशान थे। उन्हें विशेष चिह्न भी आवंटित किये गये थे जो "लांछन" कहलाते हैं तथा इसके अतिरिक्त प्रत्येक तीर्थंकर को एक सेवकों की जोड़ी दी गई थी जो यक्ष और यक्षी कहलाते थे और उनकी मूर्ति तीर्थंकरों के दोनों ओर उकेरी जाती थी।

महावीर के समय में, जैसा कि हमने देखा है, यक्ष लोकप्रिय स्थानीय देवता थे और मगध के सभी नगरों में यक्ष मन्दिर थे। जैसे-जैसे यक्षों की पूजा कम हुई, जैनों के मामलों में, वे तीर्थंकरों के अनुचर बन गये। जैन पूजा में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। तीर्थंकर भक्त की किसी प्रार्थना का उत्तर नहीं देते इसलिये कोई भी पूजा करने वाला जब किसी मन्दिर में पूजा करता है, किसी भी फल को नहीं मांगता। परन्तु यदि कोई अज्ञानी श्वेताम्बर किसी फल की माँग कर बैठता है तो उसकी प्रार्थना का उत्तर तीर्थंकर (जो वास्तवं में प्रार्थना सुनते ही नहीं) न देकर, तीर्थंकर के सेवक यक्ष देते हैं।

इस काल में देवताओं की एक श्रेणी जो काफी लोकप्रिय हुई वह विद्यादेवी थी। सर्वप्रथम केवल एक ही विद्यादेवी थी— सरस्वती, जो विद्या की देवी थी। एक सरस्वती की मूर्ति मथुरा के कनक टीला के अवशेषों में भी पाई गई है। उसकी तिथि तीसरी सदी के अन्त तक मानी जा सकती है। मूर्ति पर जो वर्ष अंकित है वह 54 है (बाद में जैन देवी- देवताओं में और भी नई विद्यादेवियाँ जुड़ गईं और अन्त में अब 16 विद्यादेवियाँ हैं। उनके नाम हैं, रोहिणी, प्रज्ञाप्ति, बज्रश्रृंखला, ब्रजांकुशा, अप्रतिचक्रा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वस्त्रा महाज्वाला, मानवी, वैरोत्या, अच्छुप्ता, मानसी और महामानसी। ये सभी सोलह आबू के सुप्रसिद्ध देलवाड़ा के मन्दिरों में दिखलाई गई हैं। इन सोलह में से, कोई भी सरस्वती के नियमित चिन्हों जैसे वीणा और पुस्तक से अलंकृत नहीं है। उनके नामों से भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे बौद्ध और हिन्दू तांत्रिक देवियों से मिलती-जुलती हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिस काल में जैन विद्या देवियों का विकास हुआ वही भारत में तांत्रिक आन्दोलन के उत्कर्ष का काल था।

हरिभद्र सूरी से हेमचन्द्र सूरी और तत्पश्चात्

हरिभद्र सूरी ने श्वेताम्बर बुद्धिजीवी आन्दोलन की नींव रखी जो 12वीं सदी में हेमचन्द्र सूरी के साथ परिपूर्णता को पहुँची। "ऐसा कहते हैं कि हरिभद्र के काल से पूर्व आज जितना श्वेताम्बर साहित्य उपलब्ध है उसका केवल आठवाँ भाग ही था और बाकी के 7/8 भाग के निर्माण में उनका सर्वाधिक सहयोग रहा और उदाहरण से प्रेरणा के स्त्रोत बने। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने 1444 छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे। आज तक 88 ग्रन्थ ढूँढ लिये गये हैं और उनमें से 26 तो निश्चित तौर से उन्हीं की कृतियाँ हैं। हरिभद्र जिनभद्र (अथवा जिन भट्ट) और जिनदत्त के शिष्य थे। वे विद्याधर कुल के थे और आठवीं सदी में सम्भवतः 705 और 775 ईसवी में हुए थे। उनका जन्म चित्रकूट जो आज का चित्तौड़गढ़ है, में एक ब्राह्मण के घर हुआ था और उन्हें ब्राह्मण धर्म की सभी शाखाओं की शिक्षा दी गई थी। अपने विशाल ज्ञान से गर्व मंडित होकर उन्होंने यह घोषणा कर दी कि वे उस व्यक्ति के शिष्य हो जाएँगे जो कोई ऐसा वाक्य बतला दे जिसका तात्पर्य वे (हरिभद्र) न समझ सकें। यह चुनौती उन्होंने एक पट्टिका पर

लिखवाकर अपने पेट पर लगवा दी। दूसरी कथा यह है कि उन्होंने अपनी देह को सोने के तारों से कसवा दिया था ताकि अधिक विद्या से उनका शरीर फूट न जाये। एक दिन उन्होंने एक जैन साध्वी याकिनी को एक पद्य बोलते हुए सुना जिसका तात्पर्य वे नहीं जानते थे। उन्होंने उसे इसका मतलब बतलाने को कहा। उसने उन्हें एक गुरु जिनभट्ट के पास भिजवाया जिन्होंने उन्हें शिक्षा देने का वचन दिया यदि वे जैन धर्म में प्रवृत्त हो जायें। इसलिये हरिभद्र साधु हो गये और तब से अपने आप को साध्वी याकिनी का धर्म-पुत्र कहने लगे। थोड़े ही समय में वे जैन धर्म ग्रन्थों में इतने प्रवीण हो गये कि उन्हें "सूरी" की पदवी प्राप्त हो गई (विद्वान जैन साधुओं को दी जाने वाली सम्मानजनक पदवी) और उनके गुरु ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। सम्भवतः वे अपने जन्म स्थान चित्रकूट से शीघ्र ही दूर चले गये क्योंकि उनका साधु जीवन का अधिक भाग राजस्थान और गुजरात में बीता था। ब्राह्मण धर्म के पूर्ण ज्ञानी होने के अलावा बौद्ध शास्त्रों और सिद्धान्तों का भी उनको अच्छा खासा ज्ञान था जिसके कारण उनके बारे में कई कथायें प्रचलित हुईं — जिनके अनुसार उन्होंने बौद्ध-धर्म के बारे में ज्ञान अपने शिष्य और भतीजे हंस और परमहंस से गुप्त रूप से प्राप्त किया ताकि इन धर्मों के सिद्धान्तों का पूर्णतया खण्डन कर सकें।

हरिभद्र ने संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में लिखा है। सम्भवतः यह पहिला व्यक्ति था जिसने संस्कृत में धर्मसूत्र पर भाष्य लिखा। प्राचीन प्राकृत टीका का उपयोग करते हुए उन्होंने कथानक का मूल प्राकृत स्वरूप वैसा ही रखा। हरिभद्र ने लम्बी प्राकृत कवितायें "समराइच्च कहा" भी लिखीं। यह एक धार्मिक उपन्यास है जिसमें नायक एवं नायिकायें, कई प्रकार के साहसिक कार्यों के करते हुए मनुष्य और जानवरों के रूप में कई जन्मों के बाद अन्त में संसार का त्याग करते हैं और जैन धर्म में प्रवृत्त होते हैं।

हरिभद्र ने गुजरात और उसके आसपास के क्षेत्र, विशेषकर राजस्थान में श्वेताम्बरों में अध्ययन की परिपाटी प्रारम्भ की। उद्योतनसूरी ने 778 ईसवी में जावालिपुर (दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में जालोर) में "कुवलयमाला" को पूरा किया। एक सदी पश्चात् 862 और 872 ईसवी के बीच शीलांक ने प्रथम दो अंगों पर अपना भाष्य लिखा। उसने सभी प्राकृत स्रोतों का, कथाओं सहित जो उसने प्रयोग में लिये थे, का संस्कृत में अनुवाद किया। उन्होंने 869 ईसवी में जैन पुराण पर भी एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक "चोपन्नमहापुरिसचरियम्" कहलाती है। शीलांक, ऐसा प्रतीत होता है, गुजरात के थे। 9वीं सदी में जयसिंह ने नागपुरा (राजस्थान के नागौर) में "धर्मोपदेशमाला" की रचना की। जैन साधुओं की विद्वता के कारण ही, उनका गुजरात के चालुक्य राजाओं के दरबार में प्रवेश आसान हो गया। चालुक्य दरबार में जैनों का विकास हुआ और इससे जैनों और चालुक्यों, दोनों को लाभ हुआ। बाद में चालुक्यों के महानतम जयसिंह सिद्धराज और श्वेताम्बर पंडितों में महानतम हेमचन्द्र समकालीन थे और मित्र भी।

11वीं सदी के प्रारम्भ में गुजरात छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। चालुक्य राजा दुर्लभराज (1002-1022) जिसने जैन पंडित जिनेश्वर सूरी को अपने

दरबार में प्रवेश दिया, अन्हिलवाडा (वर्तमान पाटन के नजदीक) और कच्छ का राजा था। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र भीम था। उस समय तक इस राज्य में जैनों नें महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक पद प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया था। भीम के मंत्री विमलशाह ने 1032 ईसवी में आबू पर प्रसिद्ध आदिनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि विमलशाह अत्यन्त धनवान व्यक्ति रहा होगा।

जैन धर्म वणिक जाति के लिये ज्यादा आकर्षक सिद्ध हुआ। सम्भवतः यह इसलिये हो कि यह धनवान जाति अपने को ब्राह्मणों (अक्सर अज्ञानी अनपढ़ ब्राह्मणों) से नीचे स्थान पर देखना नहीं चाहती थी जो पुरातन हिन्दू वर्ण व्यवस्था में वैश्यों से उच्च स्तर पर रखे गये हैं। वणिक जाति में कई उप- जातियाँ जैसे ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाली और श्री श्रीमाली सभी जैन धर्म में परिवर्तित हो गई।

भीम के पौत्र जयसिंह सिद्धराज (शासन 1064 से 1143 तक) गुजरात का सबसे महान् राजा था। उसने सम्पूर्ण गुजरात (गुर्जरमंडल) को जीता और वह उसका प्रथम सम्राट बना। सन् 1135 में उसने धार पर आक्रमण किया और 1136 में जीतकर वापस लौटा। नागरिकों में जो लोग उसके लौटने पर स्वागत करने गये उनमें एक विद्वानों का प्रतिनिधि मण्डल भी था। ऐसा कहा जाता है कि तभी प्रथम बार जयसिंह ने हेमचन्द्र को देखा।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ईसवी 1089 में अहमदाबाद के दक्षिण पश्चिम में 100 कि.मी. दूर धान्धुका में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम चाचिगा और माता का नाम पाहिनी देवी था। वे जाति से बनिया थे। लड़के का नाम चांगदेव रखा गया था (हेमचन्द्र नाम बहुत बाद में, जब वे सूरी बन गये थे— दिया गया था)।

हेमचन्द्र के पिता सम्भवतः शैव थे परन्तु उनकी माता जैन थीं। लड़का अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि था।

एक बार जब हेमचन्द्र अभी बच्चा ही था, एक जैन आचार्य देवचन्द्र यात्रा पर जाते समय धान्धुका आये। उन्होंने लड़के को देखा और उसकी विलक्षणता से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने उस बालक को जैन साधु बनाने के बारे में विचार किया। उन्होंने सोचा जब भी यह बालक बड़ा होगा जैन धर्म के लिये बड़ा सहायक सिद्ध होगा। अतः वे स्थानीय जैन व्यापारियों को साथ लेकर, चाचिगा के घर गये परन्तु चाचिगा कहीं बाहर गये हुए थे। इस पर उन्होंने लड़के की माँ से लड़का देने के लिये माँग की ताकि वे उसे शिक्षा दे सकें और जैन साधु की तरह बड़ा कर सकें। आचार्य और व्यापारियों के निवेदन पर माँ ने अपना पुत्र देना स्वीकार कर लिया।

देवचन्द्र लड़के को अपने साथ किसी अन्य नगर में ले गये। इसी बीच चाचिगा घर लौटा और जब उसे ज्ञात हुआ कि उसके लड़के को ले गये हैं, वह उसकी खोज में गया। उसने लड़के को केम्बे के प्रशासक "उदयन" जो जैन धर्मावलम्बी था,

के कब्जे में पाया। उदयन ने भी चाचिगा से पुनः निवेदन किया कि वह लड़के को देवचन्द्र के पास रहने दे और उसे काफी धन-दौलत उसके एवजाने में देने का प्रस्ताव किया। ऐसा कहा जाता है कि अन्त में चाचिगा को लड़के को देवचन्द्र के पास छोड़ने के लिये मना लिया गया था परन्तु उसने धन लेने से मना कर दिया।

बालक चांगदेव को ईसवी 1097 में दीक्षा दी गई और उसे नया नाम सोमचन्द्र दिया गया। तब उसकी शिक्षा प्रारम्भ की गई और 21 वर्ष का होने तक वह इतना विद्वान हो गया कि उसे सूरी की पदवी प्रदान की गई और उसी समय उसे नया नाम "हेमचन्द्र" दिया गया क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि उसका मुखमण्डल हेम (स्वर्ण) की तरह चमकता था।

हेमचन्द्र अपने लेखन में अक्सर अपने गुरु के बारे में कोई उल्लेख नहीं करते। वास्तव में केवल एक ही उदाहरण की जानकारी है जो "त्रिशष्टिशलाका पुरुष- चरित्र" की दसवीं पुस्तक में है जिसमें वे निश्चित रूप से अपने गुरु का उल्लेख करते हैं। इससे ऐसा लगता है कि उनके सम्बन्ध अपने प्रतिबोधक से सम्भवतः अच्छे नहीं थे। वास्तव में उनके जीवन की कथा जैसी ऊपर अंकित है उसे भी हर कोई मानने को तैयार नहीं है। उनकी जीवनी के कुछ अन्य संस्करण भी हैं।

एक अन्य बिन्दु पर सभी एकमत हैं कि हेमचन्द्र इस देश के सबसे बड़े सर्वज्ञ थे। वे "कालिकाल - सर्वज्ञ" — अर्थात् कलियुग के पूर्ण ज्ञानी कहलाते थे। उनके लेखन की भिन्नता में सम्भवतः उनका एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी धार का राजा भोज था परन्तु बहुत सारे ग्रन्थ जो भोज के होना बतलाये जाते हैं, सम्भवतः भोज के दरबारी पंडितों द्वारा लिखे गये थे। ऐसा बतलाते हैं कि हेमचन्द्र ने 3 करोड़ ग्रन्थों की रचना की। दूसरे शब्दों में वे ग्रन्थ बहुत अधिक थे। उनके कुछ ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। जो बचे हैं उनमें निम्न महत्त्वपूर्ण हैं :

1. **महाकाव्य** : अन्य बहुत सारे जैन लेखकों की तरह हेमचन्द्र ने भी जैन पुराण के 63 महापुरुषों की जीवनी लिखी है। यह एक महान ग्रन्थ है और "त्रिशष्टिशलाका पुरुष -चरित्र" कहलाता है। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ का एक परिशिष्ट लिखा। यह परिशिष्ट जो "परिशिष्टपर्वम्" की तरह जाना जाता है — महावीर के बाद जैन संघ की चौदह पीढ़ियों का इतिहास बतलाता है और जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है — यह उन केवल दो इतिहासों में से एक है जो जैनियों ने महावीर के बाद अपने संघ के बारे में लिखे हैं।

2. **व्याकरण** : हेमचन्द्र की प्रसिद्ध व्याकरण "सिद्ध हेम शब्दानुशासन" राजा जयसिंह सिद्धराज के निर्देशों पर लिखी गई थी जो चाहता था कि उसकी राजधानी भी, भोज की राजधानी धार की तरह, विद्वानों के बीच जानी जावे (भोज ने भी एक व्याकरण लिखा था, "सरस्वती कण्ठवर्णन")।

हेमचन्द्र की व्याकरण में आठ अध्याय हैं। पहिले सात अध्याय संस्कृत भाषा की व्याकरण के हैं और आठवाँ अध्याय प्राकृत भाषा की व्याकरण का। आठवाँ अध्याय प्राकृत के पश्चिमी विचारधारा के व्याकरणाचार्यों का सबसे पहिला ग्रन्थ है और इसलिये इसे प्रवर्तक ग्रन्थ माना जाता है। हेमचन्द्र करीब-करीब सभी प्रकार की प्राकृत में लिखते हैं जैसे महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी, अर्द्ध मागधी, पिशाची, चूलिका पिशाची तथा साथ ही अपभ्रंश भी।

प्रथम सात अध्यायों में हेमचन्द्र संस्कृत भाषा पर लिखते हैं और इस भाषा की पूर्व में लिखित सभी व्याकरणों की जानकारी देते हैं। उनकी शैली लचीली है और यह स्पष्ट है - कि उन्होंने पाणिनी और कातन्त्र दोनों की प्रणाली का प्रयोग किया है। इसमें उनका उद्देश्य केवल मात्र यही था कि विद्यार्थी व्याकरण को आसानी से समझ सकें। यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है कि हेमचन्द्र की व्याकरण गुजरात के बाहर कभी भी लोकप्रिय नहीं हुई।

3. **काव्य** : हेमचन्द्र ने एक "कुमारपाल चरित्र" नामक लम्बा काव्य लिखा है। यह कुमारपाल की जीवनी के बारे में है जो गुजरात के राजा जयसिंह का उत्तराधिकारी था। यह "द्वयाश्रय काव्य" भी कहलाता है क्योंकि यह न केवल दो भाषाओं— संस्कृत और प्राकृत— में लिखा हुआ है वरन् दो उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है। इसमें कुमारपाल की जीवनी के अलावा हेमचन्द्र की व्याकरण के नियमों के दृष्टान्त भी हैं।

4. **कोष** : हेनन्द्र ने चार कोष संगृहीत किये। 1. 'अभिधान चिन्तामणि' उसी तरह का कोष है जैसा अमरकोष 2. 'अनेकार्थ संग्रह'— भिन्न- भिन्न अर्थों के समनाम शब्दों का कोष 3: 'निघन्टू'— औषधियुक्त पौधों के नामों का शब्द कोष 4. 'देशी नाम माला'— स्थानीय शब्दों की शब्दावली जो संस्कृत या प्राकृत व्याकरण के नियमों से नहीं निकाले जा सके। इसके अलावा हेमचन्द्र ने काव्य शास्त्र पर "काव्यानुशासन" लिखा, छन्द शास्त्र पर छन्दानुशासन न्याय (प्रमाण मीमांसा) , योगशास्त्र आदि पर लिखा। उन्होंने कुछ भक्ति गीत भी लिखे।

गुजरात के राजा जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था और इसलिये गुजरात की गद्दी का कोई सीधा उत्तराधिकारी नहीं था। जीवन के अन्तिम दिनों तक वह एक पुत्र के लिये तरसता रहा। इसी उद्देश्य से एक बार उसने सोमनाथ मन्दिर की यात्रा की। हेमचन्द्र उनके साथ इस मन्दिर तक गये थे। हेमचन्द्र और जयसिंह के जैन मंत्री चाहते थे कि, पुत्र न होने पर जयसिंह के पिता के सौतेले भाई का लड़का कुमारपाल, जयसिंह का उत्तराधिकारी बने। सभी जैन मंत्री और धनी व्यापारी गुप्तरूप से कुमारपाल की सहायता कर रहे थे यद्यपि जयसिंह स्वयं उसे पसन्द नहीं करता था। जयसिंह की मृत्यु पर (1143 ईसवी में) जब कुमारपाल वास्तव में उसका उत्तराधिकारी बना तो वह जैनों का बड़ा आभारी था।

हेमचन्द्र कुमारपाल के जीवन भर के मित्र और सलाहकार बन गये। इस समय के सभी जैन इतिहासकारों का कहना है कि हेमचन्द्र की सलाह पर कुमारपाल ने अपने राज्य में पशुवध पर प्रतिबन्ध लगा दिया था और वह स्वयं भी एक जैन बन गया था। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह जैन धर्म को चाहता था परन्तु जैसा के. एम. मुंशी कहते हैं "कि कुमारपाल ने कभी भी अपने पूर्वजों के धर्म को नहीं छोड़ा और सभी शिलालेखों में उसे शिवभक्त बतलाया गया है।"

जो भी हो, यह तथ्य है कि उत्तरी भारत में बहुत कम राजा हुए हैं जो कुमारपाल जितने जैनों के मित्र थे। कुमारपाल की मृत्यु ईसवी 1173 में हुई जबकि हेमचन्द्र उससे छः माह पूर्व गुजरे।

इन सारी सदियों में गुजरात में जैन धर्म का शक्तिशाली प्रभाव रहा है। जैनों ने न केवल विद्वानों को पैदा किया है वरन् उन्होंने सारे प्रान्त में भव्य मन्दिरों का निर्माण ऐसे स्थानों पर करवाया है जहाँ पर मूर्ति तोड़ने वालों के हाथ आसानी से न पहुँच सकें।

चालुक्य नरेश भीम के मंत्री विमल शाह ने आबू में सन् 1032 में प्रसिद्ध ऋषभनाथ का मन्दिर बनवाया। इसके ठीक दो सौ वर्षों बाद दो भाइयों— वस्तुपाल और तेजपाल— ने ईसवी 1232 में प्रसिद्ध नेमिनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया। गिरनार (3000 फीट) पर पुराने नेमिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार ईसवी 1278 में करवाया। पालीताणा का शत्रुंजय पर्वत (2000 फीट) अनेकों जैन मन्दिरों से आच्छादित है— जो युगों से बनते आ रहे हैं। इनमें से एक आदिनाथ का चौमुखा मन्दिर ईसवी 1618 में बना था।

पड़ौसी राज्य राजस्थान के श्वेताम्बर भी महान निर्माता थे। पाली जिले में सादड़ी के पास रणकपुर का भव्य और सुन्दर मंदिर ईसवी 1439 में बना था। यह 4000 वर्ग मीटर में बना हुआ है। यह एक धारानका के आदेश से बना था और आदिनाथ को समर्पित है। जोधपुर जिले के ओसियाँ में भी वे सदियों से मन्दिर बनाते आ रहे हैं। औसियाँ जैन श्वेताम्बर ओसवालों का मूल स्थान है।

5. चित्रकला : 11वीं से 16वीं सदी के बीच गुजरात के जैनों की लघु-चित्र शैली का विकास हुआ। विशेषतः इनका प्रयोग हस्तलिखित पुस्तकों को सजाने में किया जाता था। पूर्व की सदियों में ये ग्रन्थ भोज पत्र पर होते थे और बाद में कागज पर। सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ जो सजाया जाता था वह कल्पसूत्र था। बाद में यह कला अजैनों ने भी अपना ली— कृष्ण लीला के दृश्य काफी प्रिय विषय हो गये। 16वीं सदी के आसपास धर्म- निरपेक्ष विषय, विशेषकर प्रेम-प्रसंगों के दृश्यों को भी चित्रित किया जाने लगा।

पहिले चित्रों की पृष्ठभूमि ईंट जैसी लाल होती थी परन्तु 15वीं सदी में आसमानी और सुनहरी रंगों का खुलकर प्रयोग होने लगा। जैन चित्रों की विशेषता यह

है कि 3/4 पार्श्व चित्र में कोणवाले चेहरे, तीखा नाक, बड़ी-बड़ी आँखें जो चेहरे की रेखा से बाहर निकलती हुई और गहनों का बाहुल्य। (इसके बाद की सदियों में ये गुजरात के ही चित्रकार, राजपूत चित्र शैली के पूर्वज बने)।

हीरविजय सूरी

17वीं सदी के जैन विद्वानों में सबसे महान गुजरात के हीरविजय सूरी हैं। अबुल फजल आइने- अकबरी की 30वीं आईन में — अपने समय के 140 विद्वानों की सूची देते हैं। इन 140 में से, 21 व्यक्तियों को वे प्रथम श्रेणी में रखते हैं, "ऐसे जो दोनों दुनियाँ के रहस्यों —को जानने वाले थे"। 21 में से 9 गैर मुस्लिम थे। वे थे :

1. मधु सरसुति	2. मधुसूदन	3. नारायण आसरम
4. हरिजी सूर	5. दामोदर भाट	6. रामतीर्थ
7. नरसिंग	8. परमिन्दर	9. अदित

इस प्रकार हीरविजय सूरी (ब्लोचमेन द्वारा नाम का गलत अनुवाद हरिजी सूर का दिया गया है) मुगल साम्राज्य के 21 सबसे विद्वान व्यक्तियों में से एक माने जाते थे।

अकबर ने उनके बारे में फतेहपुर सीकरी के स्थानीय जैनों से सुना था और उनसे मिलने के लिये व्यग्र था। उसने गुजरात के सूबेदार शहाबुद्दीन अहमद खान को आदेश भिजवाये कि जितना जल्दी सम्भव हो सके हीरविजय सूरी को फतेहपुर सीकरी भिजवाया जावे और आने के लिये पूरी सहायता जैसे हाथी, घोड़े, पैदल आदि दिये जावें।

हीरविजय सूरी का जन्म गुजरात में पालनपुर के एक ओसवाल परिवार में ईसवी 1527 में हुआ था। उसके माता-पिता शैशवावस्था में ही मर गये थे और उनका लालन-पालन उनकी दो बड़ी बहिनों ने किया। ईसवी 1540 में 13 वर्ष की उम्र में वे विजयानन्द सूरी के शिष्य बन गये और उन्हें नया नाम हीरा हर्ष दिया गया। उन्हें शिक्षार्जन के लिये देवगिरी ले जाया गया — जो उन दिनों संस्कृत शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। उन्हें एक के बाद एक, 1550 में पंडित, 1552 में उपाध्याय और 1553 में सूरी की उपाधि से विभूषित किया गया। यह अन्तिम पदवी उन्हें सिरोही में दी गई। इसके बाद वे हीरविजय सूरी के नाम से जाने जाने लगे। ईसवी 1556 में जब उनके गुरु का देहावसान हो गया तो गुजरात के श्वेताम्बर समाज ने उन्हें अपना भट्टारक बना दिया।

जब सम्राट के आदेश प्राप्त हुए तब अहमदाबाद के जैनों ने काफी खुशियाँ मनाईं। कई अन्य विद्वान साधुओं ने सूरी के साथ राजधानी जाने का निर्णय लिया। साधुओं के लिये जैन नियमों के अनुसार उन्हें उसी भोजन पर निर्भर रहना पड़ता है जो गृहस्थ अपने घर के लिये साधारणतया पकाये और उस भोजन में से साधु को दे

दें। परन्तु अहमदाबाद से फतेहपुर सीकरी तक के सारे मार्ग में इतने जैन परिवार नहीं थे जो साधुओं के इतने बड़े समूह (67 बतलाये जाते हैं) को, जो हीरविजय सूरी के साथ जा रहे थे, भिक्षा में भोजन दे सकते। अतः कुछ गृहस्थ भी इस समूह के साथ यात्रा पर गये। ये साधुओं के चलने से पहिले सुबह-सुबह ही चल देते थे, कुछ दूरी की यात्रा पूरी करके, सड़क पर किसी पेड़ के नीचे अपना भोजन पकाते तथा वहाँ साधुओं के आने की प्रतीक्षा करते।

एक जैन साधु होने के नाते, हीरविजय सूरी ने गुजरात के सूबेदार द्वारा दिये गये हाथियों का प्रयोग न करके सारे रास्ते पैदल ही यात्रा तय की।

ईसवी 1582 में जयेष्ठ कृष्णा - 12 को हीरविजय सूरी ने फतेहपुर सीकरी में प्रवेश किया। थके हुए यात्रियों का पूरे शाही शानो शौकत से स्वागत किया गया और उन्हें अबुल फजल की देखरेख में रख दिया गया जब तक कि बादशाह को उनसे बात करने का समय मिलता। धर्म और दर्शन पर पहिले अबुल फजल और बाद में बादशाह के साथ हुई लम्बी बातचीत के बाद सूरी आगरा गये। वर्षा के नजदीक आने पर वे फतेहपुर सीकरी लौट आये और बादशाह को इस बात के लिये राजी किया कि वे कैदियों और बन्दी चिड़ियाओं को मुक्त कर दें और कुछ दिनों के लिये जानवरों का मरवाना बन्द करवा दें। अगले वर्ष (1583 ईसवी में) आदेशों की अवधि बढ़ा दी गई और इनका उल्लंघन गम्भीर अपराध बना दिया गया। अकबर ने अपना प्रिय "आखेट" छोड़ दिया और मछली मारने की आदत को भी कम कर दिया। सूरी जिसे जगद्-गुरु की पदवी दी गई थी, आगरा और इलाहाबाद होते हुए 1584 ईसवी में वापस गुजरात लौट आये।

एक विद्वान, जो हीरविजय सूरी के साथ ही फतेहपुर सीकरी गया था, वह दरबार में ही रह गया। उसका नाम भानुचन्द्र था। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि भानुचन्द्र (भानचन्द्र) और दूसरा जैन, विजयसेन सूरी (विजयसेन सूर) के नाम अबुल फजल की सूची "विद्वानों की सूची" में सम्मिलित हैं। उसके द्वारा इन नामों को पाँचवीं श्रेणी में रखा गया है।" पाँचवीं श्रेणी में वे लोग हैं जो कट्टर हैं और जो ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ है उस सीमा से आगे जाने में वे असमर्थ हैं।" दूसरे शब्दों में भानुचन्द्र और विजयसेन— दोनों जैन श्वेताम्बर ग्रन्थों के विद्वान थे, परन्तु प्रथम श्रेणी के हीरविजय सूरी जैसे विद्वानों की तरह उनका दृष्टिकोण विशाल नहीं था। अबुल फजल ने आइने अकबरी में जैन धर्म पर एक काफी लम्बा और विस्तृत अध्याय लिखा है। उसे काफी सारी जानकारी भानुचन्द्र से मिली होगी। उसने लिखा है, "लेखक ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं मिला जिसे दोनों सघों के बारे में व्यक्तिगत जानकारी हो, और उसका दिगम्बरों के बारे में लिखना ऐसा ही है जैसे अन्धेरे मे लिखा गया हो परन्तु श्वेताम्बरों के विद्वानों से (जिन्हें सेवरा भी कहा जाता है) कुछ जान पहचान होने से वो कुछ ठीक ठाक सूचना देने में समर्थ हो सका है।"

यह उल्लेखनीय है कि 17वीं सदी के प्रारम्भ तक, हम उत्तर भारत में किसी भी दिगम्बर विद्वान के बारे में नहीं सुनते। जैन विद्वान मुगलों के आने से पहिले से भी दिल्ली दरबार में कार्य करते थे। एक ठक्कर फेरू अल्लाउद्दीन खिलजी (1316 ईसवी) के राजकोष का परीक्षक था और बाद में, कुतुबुद्दीन मुबारक (1320 ईसवी) के राज्य में "टकसाल का अधिकारी" बन गया। उसने दो ग्रन्थ लिखे, "रत्न परीक्षक" बहुमूल्य पत्थरों के परीक्षण पर और "द्रव्य परीक्षा" (धातुओं के शुद्धिकरण पर)। एक महेन्द्र सूरी ने नक्षत्र यंत्रों पर एक ग्रन्थ लिखा है— नाम है "यंत्र- राज"। इस पुस्तक पर भाष्य लिखते हुए महेन्द्र सूरी के शिष्य मलयेन्दु सूरी ने कहा "यह पुस्तक महेन्द्र सूरी ने लिखी है। जो 'फिरोज' शाह तुगलक (1351 से 1388) का प्रमुख ज्योतिषी था।" लगता है ठक्कर फेरू और महेन्द्र सूरी दोनों श्वेताम्बर थे।

श्वेताम्बरों की छोटी विभक्तियाँ और उप विभक्तियाँ — हेमचन्द्र के पहिले की लगभग एक सदी में — हमें श्वेताम्बर संघ के भिन्न-भिन्न छोटे समूहों में बँटने की साक्ष्य मिलती है। ये समूह जो गच्छ कहलाते थे, समूह के नेताओं द्वारा, जो साधारणतया महत्त्वपूर्ण साधु होते थे, द्वारा निर्मित किये जाते थे। गच्छों के निर्माण की यह प्रक्रिया 11वीं से 13वीं सदी तक चलती रही तथा अन्त में यह कहा जाता है कि कुल मिलाकर 84 गच्छों का निर्माण हुआ। जो भी हो, यह सम्भव है कि अधिकांश गच्छ अपने निर्माताओं से आगे नहीं चले और अन्य गच्छों में सम्मिलित हो गये। इस समय गुजरात और राजस्थान के अधिकांश श्वेताम्बर निम्न तीनों में से एक गच्छ के हैं :

1) खरतरगच्छ 2) तपागच्छ 3) आंचलगच्छ

यदि अन्य कोई गच्छ अब भी विद्यमान है तो उसकी कोई जानकारी नहीं है। इन विभिन्न गच्छों के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनमें कोई भी जानने योग्य सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। एक गच्छ से दूसरे गच्छ में फर्क यही है कि प्रत्येक गच्छ के अपने मन्दिर होते हैं और अपने ही साधु सन्त होते हैं। ये गच्छ जातियों के रूप में जम नहीं गये हैं — इस रूप में कि वे आवश्यक रूप से सहगोत्र विवाह वाले नहीं हैं।वास्तव में यह बतलाना कठिन है कि इन विभाजनों से क्या लाभ है। एक समय में निः संदेह एक गच्छ का तात्पर्य था किसी एक समूह का किसी एक साधु का अनुयायी होना— परन्तु अब वो बात नहीं है।

खरतरगच्छ : इन गच्छों के निर्माण का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं है परन्तु एक प्रणाली के द्वारा हम उस समय का अन्दाज लगा सकते हैं जब उनका निर्माण हुआ। जैनों में यह सामान्य नियम है कि जब भी कोई मन्दिर या अन्य धार्मिक भवन दान में देते हैं तो वे पत्थर के शिलालेख पर अपना गच्छ भी लिखवा देते हैं। इन शिलालेखों के साक्ष्य से (जहाँ तक कि वे प्रामाणिक हैं), हमें ज्ञात है कि खरतरगच्छ का ईसवी 1090 में निर्माण हुआ था क्योंकि पहिला शिलालेख जिसमें इस गच्छ का उल्लेख है उस पर संवत् 1147 लिखा हुआ है।

गच्छों के निर्माण की पौराणिक गाथायें भिन्न-भिन्न हैं। एक कथा के अनुसार जिनेश्वर सूरी ने चैत्यवासियों (साधु जो मन्दिरों में रहते हैं) को एक धार्मिक चर्चा में— अन्हिलवाड़ा के राजा दुर्लभराज के दरबार में ईसवी 1022 में हरा दिया तथा उससे "खरतरा" की पदवी पाई। "खरतरा" का तात्पर्य होता है "एक साहसिक चरित्र"। उसके अनुयायी "खरतरगच्छिया" कहलाये। एक दूसरी गाथा के अनुसार यह गच्छ जिन दत्त सूरी ने ईसवी 1147 में प्रारम्भ किया। एक अन्य विश्वास यह भी है कि इसे जिन वल्लभ सूरी ने प्रारम्भ किया था।

दिगम्बरों के विपरीत जो अपना वंशवृक्ष अपने धर्माचार्य भद्रबाहु द्वितीय या कुन्दकुन्द से प्रारम्भ करते हैं, श्वेताम्बर अपनी वंशावली स्वयं महावीर से प्रारम्भ करते हैं। ऐसी ही एक वंशावली में, जो वृहत्-खरतरगच्छ की है, यह उल्लेख है कि जैन संघ 37 वें धर्माचार्य उद्योतन— के बाद दो भागों में विभक्त हुआ (श्वेताम्बर, दिगम्बरों के अस्तित्व पर ध्यान नहीं देते)। इस उद्योतन के दो शिष्य थे वर्द्धमान और सर्वदेव। खरतरगच्छ और तपागच्छ क्रमशः इन दो शिष्यों से निकले। जो भी हो, इन गच्छों के प्रणेताओं के बारे में आज निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इन दिनों खरतरगच्छ गुजरात, काठियावाड़ और राजस्थान में सबसे अधिक लोकप्रिय गच्छ है।

तपागच्छ :

इस गच्छ के प्रारम्भ होने की पुरानी कथा यह है कि एक जगचन्द्र सूरी को उनके द्वारा उग्र तपस्या करने पर, मेवाड़ के— राजा जयसिंह द्वारा संवत् 1285 (ईसवी 1228) में "तपा" की पदवी दी गई थी। इसी से उनकी शिष्य परम्परा तपागच्छ कहलाई। इस गच्छ के लोग सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं परन्तु मुख्यतया पंजाब और हरियाणा में ज्यादा केन्द्रित हैं। ये कई शिक्षण और धार्मिक संस्थायें चलाते हैं। एस.ए.जैन कॉलेज, अम्बालासिटी- हरियाणा की एक पुरानी संस्था, उन्हीं में से एक है।

आंचलगच्छ :

इस गच्छ का पूर्व नाम "विधिपक्ष" था। तात्पर्य है "शुद्ध धार्मिक विधि की रक्षा करना"। इस गच्छ के साधु प्रतिक्रमण के समय अपना मुँह ढँकने के लिये पूरी मुँहपट्टी के बदले एक कपड़े के टुकड़े (आंचल) का प्रयोग करते हैं — इसी से इस गच्छ का नाम आंचलगच्छ पड़ा। विधि-पक्ष ईसवी 1156 में गठित हुआ बतलाया जाता है परन्तु सबसे पूर्व शिलालेख जिनमें इस गच्छ का उल्लेख है— वे सभी 15वीं सदी और उसके बाद के हैं — और उत्तर भारत में ये करीब- करीब सभी जगह पाये जाते हैं।

लोंकागच्छ :

श्वेताम्बरों में यह सबसे महत्वपूर्ण प्रतिवादी आन्दोलन है। बाद के इसी प्रकार के आन्दोलन जैसे बीजामाता, स्थानकवासी और तेरापंथी लोंकागच्छ की ही विभिन्न

शाखायें हैं। इस प्रतिवादी आन्दोलन का प्रथम प्रणेता लोंका शाह था — जिसके पीछे इस गच्छ का नाम लोंकागच्छ पड़ा।

लोंकाशाह 15वीं सदी के मध्य में हुआ था। उत्तरी भारत के धार्मिक इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण सदी है। उस समय एक नई हवा का प्रचलन हो रहा था। कबीर, नानक आदि ने अपने-अपने धर्मों की स्थापना की थी जिनका मुख्य सिद्धान्त था निर्गुण भगवान की भक्ति— जिसे निर्गुण उपासना कहा जाता है। (स्पष्ट है यह विचारधारा मुसलमानों के प्रभाव से आई थी परन्तु इसका सही- सही कितना प्रभाव पड़ा — यह बिन्दु विवादास्पद है)। मूर्ति पूजा के विरुद्ध बने हुए इस वातावरण ने जैन धर्म को भी प्रभावित किया।

लोंका अहमदाबाद में रहते थे परन्तु कुछ लोगों का मानना है कि उनका मूल निवास काठियावाड़ में था। वह मुसलमान शासकों के अधीन एक राज्य सेवक था। एक दिन उसने कुछ मुसलमान शिकारियों को एक जाल जो चिडा कहलाता है— से चिड़ियाओं को मारते देखा। इस क्रूर कृत्य को देखकर उसे इतना दुःख हुआ कि उसने अपनी नौकरी छोड़ दी और जैन धार्मिक ग्रन्थों की नकलें करके अपनी जीविका अर्जित करने लग गया।

एक बार एक साधारण जैन ने उसे "दशवैकालिक सूत्र" नकल करने के लिए दिया— तो वह उसे घर ले गया और पढ़ने लगा। इससे काफी प्रभावित होकर, उसने अपनी विधवा पुत्री की मदद से इसकी दो प्रतियाँ बनवाईं तथा एक प्रति अपने अध्ययन के लिये रख दी। इसके बाद वह जैन धार्मिक ग्रन्थों का लगनशील विद्यार्थी बन गया। उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उस समय यद्यपि जैनों में मूर्ति पूजा का काफी प्रचार था परन्तु धार्मिक ग्रन्थों में इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है।(यह तथ्य सही नहीं है। शुब्रिंग ने लिखा है कि जैन शास्त्रों में कई जगह मूर्तियों का प्रसंग आता है। उदाहरणार्थ उन्होंने णायधम्म कहाओ (210बी), रायपसेनैज (87बी, 94ए, आदि) का उल्लेख किया है।)[1]

तब उसने अपने अनुसार प्रमाणित जैन धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया जिसमें मूर्ति पूजा का स्थान नहीं था। उनका तरीका और ढँग इतना आकर्षक था कि काफी संख्या में लोग उनका उपदेश सुनने आने लगे। इससे समाज के प्रतिष्ठित साधु नाराज हो गये, क्योंकि लोंका एक साधारण गृहस्थ था और उसे उपदेश देने का कोई हक नहीं था।

इसी समय एक संघ (यात्रियों का एक समूह) अहमदाबाद आया। इसका संघपति एक शंभूजी था। उसकी पोती मोहाबाई, एक बाल विधवा थी। शंभूजी और यह लड़की दोनों ही लोंका के उपदेशों से काफी प्रभावित हुए। दूसरे साधारण यात्रियों ने

1. मूल पुस्तक में यह सूचना नहीं है। लेखक ने अनुवाद की पाण्डुलिपि का संशोधन करते वक्त इसका उल्लेख किया है।

भी लोंका के उपदेश सुनना प्रारम्भ कर दिया। इससे संघ के साथ आये हुए साधु क्रोधित हो गये और संघ को छोड़कर चल दिये। संघ के करीब 45 सदस्य अहमदाबाद में ही रुक गये और लोंका से दीक्षा लेकर, उसके शिष्य बन गये। यह घटना विक्रम संवत् 1531 (ईसवी 1474) के ज्येष्ठ शुक्ला 5 को हुई। कुछ लोगों का मानना है कि घटना 1476 ईसवी की है।

लोंका साधु नहीं बना, जीवन भर गृहस्थ उपदेशक ही बना रहा परन्तु उसके बहुत सारे शिष्य मुनि बन गये। इन शिष्यों में बाद में मुनि सरवाज, मुनि भाना जी, मुनि मुनीजी, मुनि जगमाल जी काफी प्रसिद्ध हुए। लोंका यद्यपि गृहस्थ था फिर भी लोग उन्हें मुनि के नाम से बुलाते थे और उन्होंने जिस गच्छ की नींव रखी वह कभी-कभी दयागच्छ भी कहलाता है।

लोंका का शिष्य रूपा ऋषि था जिसे सूरत में दीक्षा दी गई थी। इनके बाद जीवा ऋषि हुए परन्तु उनके समय तक इस गच्छ में और उप-शाखायें बननी प्रारम्भ हो गई थीं। एक बीजा ने 1513 ईसवी में बीजामाता गच्छ प्रारम्भ किया। मूल लोंकागच्छ सम्भवतः बाद में "स्थानकवासी" कहलाया। यह भी कहा जाता है कि "स्थानकवासी" एक नया समूह था जो लोंकागच्छ के लवजी, जो सूरत निवासी थे, के द्वारा 1652 ईसवी में प्रारम्भ किया गया था।"स्थानकवासी" नाम की उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः "स्थानकवासी"— साधुओं के एक स्थान पर (स्थानक) रहने के कारण ही यह नाम पड़ गया हो। और जैसा कि शुब्रिंग कहता है "इस नाम से ऐसे जैनों को परिभाषित किया गया है जो अपनी धार्मिक क्रियाएँ मन्दिर में न करके किसी अन्य पवित्र स्थान उपाश्रय (स्थानक) में करते हैं। इस समूह का दूसरा नाम "बत्तीसी" (बत्तीसा) है— क्योंकि यद्यपि ये अपने आपको श्वेताम्बर कहते हैं परन्तु श्वेताम्बरों के 45 (धर्मशास्त्रों) में से 13 को जिनमें महानिसिहा भी सम्मिलित है, ये नहीं मानते। मूर्तियों के प्रति उनके रुख के कारण वे स्थानकवासी ढुंढिया और ढुंढक भी कहलाते हैं जिसका तात्पर्य है "ग्रन्थों के खोजी"।

तेरापंथी :

इसका जो भी नाम हो, मूल लोंकागच्छ या स्थानकवासी ईसवी 1760 तक लगातार अस्तित्व में बना रहा। उसी वर्ष श्वेताम्बर संघ में, इन वर्षों का सबसे महत्त्वपूर्ण सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। मारवाड़ के एक ओसवाल साधु भीखणजी ने स्थानकवासियों में एक नया पंथ— तेरापंथ प्रारम्भ किया। तेरापंथ नाम की उत्पत्ति के बारे में कई कथायें प्रचलित हैं। उनमें से एक जिसे तेरापंथी स्वयं पसन्द करते है वह यह है कि यह पंथ जैन धर्म के 13 प्रमुख सिद्धान्तों के पालन में दृढ़ विश्वास रखता है— जो निम्न हैं : पाँच महाव्रत (व्रत), 5 समिति (चाल चलन के नियम) और 3 गुप्ति (मन, वचन और काया पर नियंत्रण)।

जिन स्थानकवासियों ने तेरापंथ के सुधारों को नहीं स्वीकारा वे "बाईसटोला" कहलाते हैं।

तेरापंथ अब भी काफी शक्तिशाली आन्दोलन है। इसका एक कारण यह भी है कि इसके प्रणेता भीखणजी ने यह नियम निर्धारित कर दिया था कि इस शाखा का केवल एक ही आचार्य (नेता) होगा। इससे इसमें विभाजन होने के अवसर कम हो गये हैं। इसके वर्तमान आचार्य तुलसीरामजी (जन्म 1914 ईसवी) इस शाखा के नवम् आचार्य हैं।

अध्याय 11

उपसंहार

आज के जैन :

जैनों के दो संघों में एक श्वेताम्बर जैसा कि हमने देखा मुख्यतया पश्चिमी भारत में हैं—विशेष कर गुजरात और राजस्थान में। व्यापार के लिए वे देश के अन्य भागों में भी फैल गये हैं। दूसरी और दिगम्बरों को दो स्पष्ट भौगोलिक समूहों में बाँट सकते हैं। दक्षिण भारत के स्थानीय जैन सभी दिगम्बर हैं। काम धंधे की दृष्टि से वे कृषक और दस्ताकार हैं-व्योपारी नहीं। वे संगठित अच्छी जातियां हैं तथा उनका धार्मिक और सामाजिक जीवन भट्टारकों के द्वारा नियंत्रित है। उनका उत्तर भारत के दिगम्बरों से कोई सामाजिक सम्पर्क नहीं है और उत्तर भारत के दिगम्बरों को उनके अस्तित्व का भी पता नहीं सिवाय इसके कि वे दक्षिण भारत की यात्रा पर जाने पर उन्हें देख पाते हैं। शिक्षा की दृष्टि से भी दक्षिण भारत के दिगम्बर पिछड़े हुए हैं। अधिकतर जैन जो अपने आपको जैन जाति के होना बतलाते हैं इनकी परवाह नहीं करते। इनकी याद केवल उसी समय की जाती है जब दक्षिण भारत में जैन धर्म के गत वैभव को याद किया जाता है। उत्तर भारत के दिगम्बर पूर्वी राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में छोटे-छोटे समूहों में फैले हुए हैं।

जैन जाति में सामान्यतया यह डर फैला हुआ है कि कहीं वे हिन्दू धर्म के महासागर में खो न जाय। यह डर नया प्रतीत होता है और शायद 50 वर्ष से अधिक का न होगा। पहिले (और धनवान लोगों में आज भी) यह काफी आम बात थी कि श्वेताम्बर जैन अग्रवाल और अजैन अग्रवालों में आपस में शादियाँ होती थीं और दुल्हन अपने पति का धर्म अपना लेती थी। हिन्दू शब्द का प्रयोग कभी भी नहीं किया जाता था। अजैन अग्रवालों के लिए "वैष्णव" शब्द प्रयोग में लिया जाता था। राजस्थान के ओसवालों में आज भी कुछ जैन हैं और कुछ वैष्णव हैं। अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। जैनों और अजैनों में शादियों को आज के जैन समाज के नेता अधिक पसन्द नहीं करते। अब यह प्रवृति बढ़ती जा रही है कि जैन समाज से अजैन तत्व को समाप्त किया जावे। इसी कारण कई जैनों ने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक संबंध करने बन्द कर दिये हैं। जैन धर्म और हिन्दू धर्म के बीच एक मजेदार भिन्नता है। हिन्दुओं में कोई धार्मिक मत नहींहै-वरन् उनमें काफी बड़ा साहित्या-सामाजिक रीति-रिवाज और व्यवहार नियमों के बारे में है। ये धर्म शास्त्र कहलाते हैं। दूसरी और जैनों के लिये धार्मिक व्यवहार के नियम उनके पांच महाव्रतों में सन्निहित है परन्तु उनके कोई पुरानी कानूनी पुस्तकें नहीं हैं। इस प्रकार उदाहरण के तौर पर हिन्दुओं में शादी एक धार्मिक क्रिया है जबकि जैनों

के लिए यह एक अनुबन्ध के समान है। जैन धर्म में ऐसे निर्देश नहीं हैं कि आत्मा की मुक्ति के लिए विवाह करना आवश्यक है। मृत्यु पश्चात् जीवन से विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं है। जब कोई श्राद्ध नहीं करना, तो मरे हुए पुरखों के प्रति कोई ऋण उतारने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। जैन धार्मिक ग्रन्थों में विवाह से संबंधित कोई विस्तृत नियम आदि भी नहीं हैं। बाद की जैन धार्मिक पुस्तकें जैसे "आदि पुराण" या "त्रिवर्णिकाचार" साधारणतया सामाजिक मामलों में हिन्दू नियमों को ही उद्दृत करते हैं। उदाहरण के लिए ऐसी पुस्तकों में मनुस्मृति की ही तरह आठ प्रकार के विवाह का उल्लेख है। सिद्धान्त रूप में जैन विधवा विवाह की भी अनुमति देते हैं और वही श्लोक उद्दृत करते हैं जो हिन्दुओं की "पराशर स्मृति" में दिया गया है। और जिसके आधार पर ईश्वर चन्द्र विद्यासागर हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह का नियम पारित करवा सके थे। नाथूराम प्रेमी के अनुसार, जैन ग्रन्थ धर्म परीक्षा (11वीं सदी) इस दृष्टिकोण की पुष्टि करता है कि इस श्लोक में "पतौऊ" शब्द का तात्पर्य वैद्यानिक रूप से विवाहित पति है, यद्यपि इस तात्पर्य के लिये व्याकरण के अनुसार सही शब्द "पत्यौ" होना चाहिए। जो भी हो, जैनों में विधवा विवाह के संबंध में क्षेत्रीय जातीय नियमों का पालन किया जाता है। दक्षिण में विधवा विवाह असामान्य नहीं है जबकि उत्तर भारत में इसकी सामाजिक मान्यता नहीं है। बहीर्गौत्र विवाह के मामले में जैन अपने हिन्दू पड़ौसियों जैसे नियम ही अपनाते हैं। उदाहरणार्थ कर्नाटक क्षेत्र में चाचा मामा के बेटे बेटियों के साथ और यहा तक कि मामा-भांजियों के बीच विवाह होना भी काफी सामान्य है जबकि उत्तर भारत में जैन इतने ही गौत्र टालते हैं जितने उनके हिन्दू पड़ौसी तथा उन्हीं जैसे रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। इस प्रकार शादी तभी पूरी होना माना जाता है जब सप्त पदी या ऐसा ही कोई अन्य संस्कार कर लिया जाता है।

जहां तक साधुओं से व्यवहार का प्रश्न है हिन्दुओं और जैनों में काफी अन्तर है। हिन्दुओं में एक साधु सभी उद्देश्यों के लिए समाज के बाहर है। सिद्धान्त रूप में उसके और सांसारिक लोगों के बीच कोई संबंध नहीं है-अपवाद रूप तभी होता है जबकि कोई अवतार हो जाता है। जैनों में स्थिति ऐसी नहीं है। जैन साधु जीवनपर्यन्त गृहस्थ समाज से संबंध बनाये रखते हैं। और साधारणतया धार्मिक गुरु माने जाते हैं। समाज न केवल उन्हें भोजन देता है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर शरण भी देता है परन्तु उनके व्यवहार पर लगातार ध्यान रखा जाता है। साधुओं के व्रतों का अतिक्रमण सहन नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए श्वेताम्बर खतरगच्छ के पचपनवें नेता जिनवर्धन को चौथे व्रत का उल्लंघन करने के लिय सूरी पद से हटा दिया गया था। इस प्रकार चूंकि एक जैन साधु को अपने भोजन की चिन्ता नहीं करनी पड़ती-न उसे समाज की चौकन्नी निगाहों से बच कर रहने का अवसर मिलता है वह अपना समय केवल लिखने-पढ़ने में ही व्यतीत कर सकता है। इसलिए युगों से जैन साधुओं में अनगिनत लेखक हुए हैं तथा उनके द्वारा किया गया लेखन भी विशाल है। कुछ अपवादों को छोड़कर लेखन की

गुणात्मकता उसके परिमाण को देखते हुए इतनी श्रेष्ठ नहीं है। जैन धार्मिक विचारधारा महावीर के समय के बाद से व्यवहारिक रूप से जम सी गई है इसलिए इसमें कल्पनाशीलता की गुंजाइश नगण्य है। बाद के जैन साधुओं द्वारा दर्शनशास्त्र पर लिखी गई पुस्तकें शुष्क हैं। जैन पुराणों के आधार पर साधुओं ने साहित्यिक रचनाएँ भी की हैं परन्तु चूंकि उन्हें प्रेम प्रसंगों को बिल्कुल छोड़ना पड़ता है अतः उनके लेखन में काव्यात्मकता का गुण कम है। मध्यकालीन युग का करीब करीब सारा का सारा हिन्दी साहित्य भक्ति रस से पूर्ण है। यहां भी जैन लाभ से वंचित रहे क्योंकि जैन धर्म में भक्ति की व्यग्रता के लिए कोई स्थान नहीं है।

भले ही उनके लेखन में साहित्य के अमरत्व का गुण न हो, परन्तु जिस प्रकार का अध्ययनशील जीवन साधुओं को बीताना होता है उसके लिए उन्हें पुस्तकालय उपलब्ध कराना आवश्यक था। इस प्रकार जहां कहीं भी जैन परिवारों का समूह रहता है वहां प्रत्येक स्थान पर पुस्तकों का संग्रह "ग्रन्थ भण्डार" मिलता है। श्री के.सी.कासलीवाल ने अपनी पुस्तक जैन ग्रन्थ भण्डार्स इन राजस्थान (JAIN GRANTHA BHANDARS IN RAJASTHAN) में इस प्रकार के 100 संग्राहालयों का उल्लेख किया है। इन सग्रहों में केवल जैन धार्मिक पुस्तकें ही नहीं वरन् कई अन्य सामाजिक पुस्तकें जैसे कालिदास की रचनाएँ आदि भी हैं, और कभी-कभी संगीत पर भी रचनाऐं उपलब्ध हो जाती हैं।

जैनियों की भारतीय सभ्यता को एक बहुत ही महत्वपूर्ण देन है अनगिनत सुन्दर मन्दिर जो उन्होंने सारे देश में निर्मित किये हैं। उनमें से कुछ मुख्य मार्गों से इतने हटकर हैं कि मूर्तिभंजकों के हाथों से बच गये। और यही कारण है कि उनमें कुछ आज भी प्रसिद्ध नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर राजस्थान के पाली जिले में रणकपुर के मन्दिर और झाँसी जिले की ललिपुर तहसील में देवगढ़ के 31 मंदिर। देवगढ़ में हजार से अधिक जैन मूर्तियाँ हैं। उनमें से एक का वर्णन "भारत की धरती पर निर्मित होने वाली सर्वश्रेष्ठ कलाकृति" के रूप में किया जाता है।

जैन व्यापारी पुराने जमाने से अपने धन के कारण प्रसिद्ध रहे हैं। उनमें से हरेक धनवान नहीं था परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुछ परिवार जो किसी शहर में बहुत धनवान थे और जिन्हें मुगलों द्वारा नगर सेठ का पद दिया गया था वे आज भी धनवान हैं। दो उदाहरण हैं :— एक तो सेठ कस्तूर भाई लाल भाई का जो अहमदाबाद के नगर सेठ हैं और दूसरे जीव राज बालचन्द गांधी जो शोलापुर के नगर सेठ हैं। कई जैनों ने अपने धन का अच्छा उपयोग किया है। अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, धर्मशाला और ऐसे ही दूसरे संस्थानों को बनाने में जैनों का सहयोग आनुपातिक तौर पर देश की अन्य सभी जातियों से कई गुना अधिक रहा है।

परिशिष्ट- I

श्वेताम्बरों के पवित्र ग्रन्थ

श्वेताम्बरों के धर्म शास्त्र (दिगम्बर जिन्हें प्रमाणित नहीं मानते) महावीर के स्वयं के नहीं हैं, परन्तु उनमें से कुछ के बारे में कहा जाता है कि ये महावीर द्वारा इन्द्रभूति (जो गौतम के नाम से भी जाने जाते थे) और सुधर्मा को दिये गये प्रवचन हैं। सुधर्मन ने इसे अपने शिष्य जम्बू स्वामी को सुनाया।

जैनों का विचार है कि मूलरूप से, अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के समय से दो प्रकार की पवित्र पुस्तकें थीं। एक तो "पूर्व" थे जिनकी संख्या 14 थी और दूसरे "अंग" थे, जो 11 थे। 14 पूर्वों को मिलाकर एक 12 वाँ अंग और माना जाता है। इसे दृष्टिवाद भी कहते हैं। 14 पूर्वों का ज्ञान स्थूल भद्र तक चलता रहा, जो महावीर के बाद आठवें धर्माचार्य थे। उनके बाद के सात धर्माचार्य जो वज्र तक थे, केवल 10 पूर्वों की ही जानकारी रखते थे और उनके बाद, बकाया के सभी पूर्वों का ज्ञान धीरे-धीरे लुप्त हो गया और उस समय जब धर्मशास्त्र को पुस्तकों के रूप में लिखा जाने लगा सभी पूर्व समाप्त हो गये थे और इसलिये 12वाँ अंग भी चला गया। यह श्वेताम्बरों की पूर्वों के समाप्त होने की कहानी है (दिगम्बरों की पूर्वों के समाप्त होने की कहानी विस्तृत विवरण में इससे थोड़ी भिन्न है परन्तु इसके अतिरिक्त उनका मानना है कि सभी अंग नौ और पीढ़ियों के बाद धीरे-धीरे समाप्त हुए थे)।

धर्मशास्त्र के 11 अंग सबसे पुराने भाग हैं जिसमें 45 ग्रन्थ हैं। 34 अन्य ग्रन्थ हैं : 12 अवांग (उपांग), 10 पन्नास (प्रकीर्ण), 6 छेयासुत्ता (छेदसूत्र), 2 स्वतंत्र ग्रन्थ जैसे 'नन्दीसूत्र' और 'अनुयोगद्वार' तथा 4 मूलसूत्र। निम्नानुसार इसकी गणना की गई है:

I. **11 अंग —**

1. आचारांग सूत्र (आचारंग सूत्र)
2. सूयगडांग (सूत्र कृतांग)
3. थाणांग (स्थानांग)
4. समवायांग
5. भगवती वियाहपन्नति (भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति)
6. नायधम्म कहाओ (ज्ञाताधर्म कथा)
7. उवसगदसाओ (उपासकदशांया)
8. अन्तगढा दसाओ (अंतकृददशा:)
9. अनुत्तरोववैयादासो (अनुत्तरोपपातिक दशा:)

10. पनहवागर नियम (प्रश्न व्याकरणानी)
11. विवागासूयम (विपाक सूत्र)

II. बारह उवामा (उपांग) अथवा "सहायक अंग" –

1. उवावैया (औपपातिक)
2. रायपासेनैज्जि या रायपसैनेया (राजा प्रश्निया)
3. जीवाभिगम
4. पन्नवना (प्रज्ञापना)
5. सूरियापन्नत्ति (सूर्य प्रज्ञप्ति)
6. जम्बूद्विवन्नति (जम्बूदिव प्रज्ञप्ति)
7. चन्दापन्नत्ति (चन्द्र प्रज्ञप्ति)
8. निर्यावली
9. कप्पवडामसियो (कल्पावतं सिका)
10. पूफिआओ (पुष्पिका)
11. पुप्फचूलिआओ (पुष्पचूलिका)
12. वन्हिदशाओ (वृष्णिदशाः)

III. दस पन्ना (प्रकीर्ण अर्थात् बिखरे हुऐ टुकड़े)

1. चौसरणा (चतुदेशरना)
2. औरिपच्चखान (आतुर प्रत्याख्यान)
3. भट्टपरिन्ना (भक्त परीक्षा)
4. समथारा (संस्तार)
5. तरम्दुलावेचालिया (तन्दुल वैचारिक)
6. चामद्राविज्जया
7. देवीमदत्था (देवेन्द्रस्तव)
8. गणिविज्जा (गणिविद्या)
9. महापच्चखान (महा प्रत्याख्यान)
10. वीरत्था (वीरस्तव)

IV. छः छेया सूत्त (छेद सूत्र)

1. निसिह (निशीथ)
2. महानिसिह (महानिशीथ)

3. ववहरा (व्यवहार)
4. अयारादसाओ (आचारदशा) अथवा दशासुय स्कंध (दसा सूत्र स्कंध)
5. कप्प (वृहतकल्प) तथा
6. पंचकंप्प (पंचकल्प)

V. **विशिष्ट ग्रन्थ-**

1. नन्दी अथवा नन्दी सूत (नन्दी सूत्र)
2. अनुओगदरा (अनुयोगद्वार)

VI. **चारमूल सूत्त (मूल सूत्र)**

1. उत्तराझाया (उत्तर अध्याय) अथवा उत्तराझायन (उत्तराध्यायन)
2. अवसय्या (आवश्यक)
3. दशावैयालिया (दशावैकालिक)
4. पिण्डनिजुक्ति (पिंड निर्युक्ति) तीसरा और चौथा मूल सूत्र भी कभी-कभी ओहानिज्जुक्ति (ओघा-निर्युक्ति) तथा पक्खी (पाक्षिक सूत्र) और कभी-कभी पिण्डानिज्जुक्ति और ओहानिज्जुक्ति के नाम से छेया सूत्तों की सूची में भी दिखलाये जाते हैं।

परिशिष्ट-II

दिगम्बरों की पवित्र पुस्तकें

दिगम्बरों का मानना है कि मूल अंग जिनमें महावीर सहित तीर्थंकरों के उपदेश समाहित थे धीरे-धीरे समाप्त हो गये हैं, क्योंकि वे आचार्य जिन्हें इनका ज्ञान था, अपने शिष्यों को पूरी तरह सिखाये बिना ही चल बसे। इस प्रकार कोई तरीका ही नहीं रह गया कि जिससे उस मूल वाणी को पुनः निर्मित किया जा सके जिसमें भगवान महावीर ने अपने शिष्यों को शिक्षा दी थी। इसीलिए, दिगम्बर श्वेताम्बरों के धर्मशास्त्रों को जिन्हें वे मूल होना बतलाते हैं, अस्वीकार करते हैं और धार्मिक साहित्य के लिए वे उनके प्रारम्भिक आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का सहारा लेते हैं। ये प्रारंभिक आचार्य थे, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पुष्पदत, भूतबली, गणधराचार्य, स्वामी कार्तिकेय, वट्टकेर आदि। इन आचार्यों में से अधिकांश ने दक्षिणी भारत में ही लिखा। इनमें एक मात्र अपवाद उमास्वामी हैं जिनका तत्वार्थधिगम-सूत्र पाटलीपुत्र में रचा गया बतलाया जाता है।

इस बात पर एकमत नहीं है कि इस पवित्र साहित्य में कौन से ग्रन्थों को सर्वाधिक पवित्र माना जावे और उनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जावे। सत्तर वर्ष पूर्व, जब विन्टरनित्श लिख रहा था, उस समय सामान्य परिपाटी इन ग्रन्थों को चार समूहों में रखने की थी (उन्हें कभी-कभी चार वेद भी कहते थे) ।उन दिनों विभाजन निम्न प्रकार से था :

1. **प्रथमानुयोग** - पौराणिक कथाओं के ग्रन्थ जिसमें पुराण सम्मिलित हैं : पद्म, हरिवंश, त्रिशष्टिलक्षण, महा एवं उत्तर पुराण।

2. **करणानुयोग** - विश्व–विज्ञान से सम्बनधित ग्रन्थ · सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति तथा जयधवला।

3. **द्रव्यानुयोग** - कुन्द-कुन्द के दार्शनिक ग्रन्थ, उमास्वामी का तत्वार्थधिगम सूत्र तथा समन्तभद्र का आप्तमीमासा।

4. **चरणानुयोग** · कर्मकाण्ड के ग्रन्थ : वट्टकेर का "मूलाचार" और "त्रिवर्णनाचार" तथा समन्त भद्र का "रत्नाकरण्ड श्रावकाचार"। वर्तमान परिपाटी सबसे पवित्र दिगम्बर साहित्य को दो समूहों में बॉटने की है—

1. कर्मप्रभृत :

"कर्म पर अध्याय'। इसे षटखंडागम भी कहते हैं और इसकी रचना पुष्पदन्त और भूतबली ने "दृष्टिवाद" के आधार पर की है जो अब लुप्त हो गया है। इसका रचनाकाल महावीर के बाद सातवी सदी का है। वीरसेन (ईसवीं 9वीं सदी) द्वारा कर्मप्रर्भृतिका की प्रथम पॉच पुस्तको पर किया गया भाष्य भी उतना ही आदरणीय है।

2. कषाय प्रभृतिका

"वासनाओं पर अध्याय"। इसका रचयिता गणधर है और यह भी दृष्टिवाद पर आधारित है और उसी काल में लिखी गई है जब कर्म प्रभृतिका लिखी गई थी। वीरसेन तथा उसके शिष्य जिनसेन द्वारा लिखा गया इसका भाष्य भी आदरणीय है।

परिशिष्ट-III

तीर्थंकर

जैनों की तीर्थंकरों की सूची नीचे दी जा रही है। एक जैन मंदिर में तीर्थंकर केन्द्र बिन्दु होता है। उसकी मूर्ति को या तो सीधे खड़े, कायोत्सर्ग आसन में दिखलाते हैं अथवा योगासन में बैठे हुए। चूँकि तीर्थंकरों की मूर्तियाँ एक सी प्रतीत होती है—उन्हें उनसे संम्बन्धित चिह्नों से पहिचानना पड़ता है। साधारणतया यह चिह्न कोई पशु होता है जो तीर्थंकर के आसन के नीचे अंकित होता है। तीर्थकर साधारणतया देवी-देवताओं अथवा उनके अनुचरों के साथ होते हैं-जो यक्ष-यक्षिणी कहलाते हैं। तीर्थकरों के चिन्ह और उनके अनुचर दिगम्बरों में कुछ मामलों में श्वेताम्बरों से भिन्न होते हैं। कभी-कभी मूर्ति के साथ बतलाये गये वृक्ष से भी तीर्थंकर की पहिचान हो जाती है। ये वृक्ष दीक्षावृक्ष कहलाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन तीर्थंकरों ने जिन वृक्षों के नीचे ध्यान कर सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया वे उनके दीक्षावृक्ष बन गये। तीर्थंकरों के चिन्ह और उनके परिचारकों के नामों को अन्तिम रूप आठवीं सदी के आसपास दिया गया था।

क्र.सं.	तीर्थंकर	रंग	वृक्ष	चिन्ह	यक्ष	यक्षिणी
1.	ऋषभनाथ या आदिनाथ	स्वर्णिम	बरगद	वृषभ	गोमुख	चक्रेश्वीर (दि) अप्रतिचक्रा (श्वे)
2.	अजितनाथ	स्वर्णिम	शाल	हस्ति	महायक्ष	रोहिणी (दि) अजितबाला (श्वे)
3.	सभवनाथ	स्वर्णिम	प्रयल	घोड़ा	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति (दि) दुरित्रह (श्वे)
4.	अभिनन्दन	स्वर्णिम	प्रियागु	बन्दर	यज्ञेश्वर (दि) यक्षनायक (श्वे)	वज्रकृखला (दि) कलिका (श्वे)
5.	सुमतिनाथ	स्वर्णिम	शाल	क्रौंच	तुम्बूरू	पुरुषदत्ता (दि) महाकाली (श्वे)
6.	पद्मप्रभ	लाल	चत्र	लालकमल	कुसुम	मनोवेगा, मनोगुप्ता (दि) श्यामा, अच्युता (श्वे)
7.	सुपार्श्वनाथ	हरा (दि) स्वर्णिम (श्वे)	शिरिष	स्वस्तिक तथा सिर पर साँप के पाँच फन	वारानदी (दि) मातग (श्वे)	काली (दि) शाता (श्वे)
8.	चन्द्रप्रभ	श्वेत	नाग	अद्र्धचन्द्र	श्यामा (दि) विजया (श्वे-दि)	ज्वालामालिनी (दि) भृकुटि (श्वे)
9.	पुष्पदत अथवा सुविधिनाथ	श्वेत	शाली	मकर	अजित	महाकाली या अजिता (दि) सुतारा (श्वे)

10.	शीतलनाथ	स्वर्णिम	प्रियांगु	श्री वृक्षा (दि) श्री वत्स (श्वे)	ब्रह्म् ब्रह्मेश्वर या ब्रह्मशांति	मानवी (दि) अशोका (श्वे)
11.	श्रेयांसनाथ	स्वर्णिम	तन्दुका	गैंडा	ईश्वर (दि) यक्षेत	गोरी (दि) मानवी (श्वे)
12.	वासुपूज्य	लाल	पाताली	भैंसा या बैल	कुमार	गान्धारी (दि) चन्द्रा चन्दा (श्वे)
13.	विमलनाथ	स्वर्णिम	जम्बो	सूअर	षणमुख या कार्तिकेय	वज्रोतीषा वैरोत्या (दि) विदिता (श्वे)
14.	अनन्तनाथ	स्वर्णिम	अशोक	बाज	पटाला	अनन्तमती (दि) अंकुशा (श्वे)
15.	धर्मनाथ	स्वर्णिम	दधिपर्ण	वज्रदंडा	किन्नर	मानसी (दि) कंदर्प (श्वे)
16.	शांतिनाथ	स्वर्णिम	नन्दी	हिरण	किमपुरुष (दि) गुरुड़ (श्वे)	महामानसी (दि) निर्वाणी (श्वे)
17.	कुन्थुनाथ	स्वर्णिम	तीलक	बकरा	गन्धर्व	विजया या जया (दि) बाला (श्वे)
18.	अरनाथ	स्वर्णिम	आम	मकाली (दि) नंद्यावर्त (श्वे)	केन्द्र (दि) मक्षेन्द्र मक्षेत (श्वे)	अजिता (दि) धरणी, धन (श्वे)
19.	मल्लिनाथ	स्वर्णिम (दि) नीला (श्वे)	अशोक	पानी का घड़ा	कुबेर	अपराजित (दि) वैरोत्या या धरनी प्रिया (श्वे)
20.	मुनिसुव्रत	काला	चंपक	कछुआ	वरुण	बहुरूपिणी (दि) नरदत्ता (श्वे)
21.	नमीनाथ नीमी या निमेश्वर	स्वर्णिम	बकुल	नीलकमल	भृकुटि	चामुण्डा (दि) गान्धारी (श्वे)
22.	नेमिनाथ (अरिष्ठनेमी)	काला	वेतसा	शंख	सर्वाह्न (दि) गोमेध (श्वे)	कुसुमान्दिनी या धर्मदेवी (दि) अम्बिका (श्वे)
23.	पार्श्वनाथ	नीला	धात की	आसन पर सर्प और सिर पर सात फन	धरणेन्द्र या पार्श्वयक्ष	पद्मावती
24.	महावीर	स्वर्णिम	शाल	सिंह	मातंग	सिद्धायिनी या सिद्धायिका

परिशिष्ट -IV

कल्पसूत्र की स्थविरावली

श्वेताम्बरों के कल्पसूत्र में उनके धर्म संगठन के आचार्यों की सूची दी गई है। श्वेताम्बर संघ की सामान्यतः यह मान्य सूची है। हेमचन्द्र ने भी इसी सूची को अपनाया है सिवाय इसके कि उन्होंने सूची में अंकित कुछ धर्मचार्यों के बारे में विवरण कम कर दिया है।

(श्वेताम्बरों के धर्मचार्यों की दूसरी सूची 'नन्दी सूत्र' में दी गई है—कृपया परिशिष्ट 5 का अवलोकन करें।)

महावीर के ग्यारह गणधर थे। वे 12 अंग, 14 पूर्व और पूर्ण सिद्धान्त के जानकार थे। इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा के सिवाय सभी गणधर महावीर के निर्वाण के पूर्व ही मोक्ष गये थे। "आज के सभी निगण्ठ श्रमण साधु आर्य सुधर्मा के आध्यात्मिक वंशज हैं क्योंकि अन्य किसी गणधर ने कोई वंशज नहीं छोड़ा"। महावीर के शिष्य थे:

1. सुधर्मा
2. जम्बूनामन्
3. प्रभव
4. शय्यंभव-मनक के पिता
5. यशोभद्र

कल्पसूत्र में अब सूची दो रूपों में आगे बढ़ती है : एक तो संक्षिप्त नूतन संस्करण और दूसरी गण-कुल और विभिन्न आचार्यों द्वारा स्थापित शाखाओं को बतलाते हुए। गण—किसी एक गुरु द्वारा चलाई गई विचारधारा का नाम है। यह वर्तमान युग के गच्छ के समान प्रतीत होती है। गुरुओं की एक के बाद एक पंक्ति में परम्परा-कुल के नाम से जानी जाती है और प्रत्येक गुरु से अलग से प्रारंभ होने वाली (विचारधारा), शाखा कहलाती है।

संक्षिप्त नूतन संस्करण में आर्य यशोभद्र के बाद स्थविरों की सूची निम्न प्रकार है :

6.	(अ) भद्रबाहु और	(ब) संभूतविजय
7.	स्थूलभद्र	
8.	(अ) महागिरी	(ब) सुहस्तिन

9.	(अ) सुस्थित	(ब) सुप्रतिबुद्ध
	(अ) कोटिका	(ब) काकनण्डक
10.	इन्द्र दत्त	
11.	दत्त	
12.	सिंहगिरी	
13.	वज्र	
14.	वज्रसेन	

कल्पसूत्र तब शिष्यों के नामों अथवा गणों, कुलों, शाखाओं, जो इन नौ पीढ़ियों के स्थविरों ने स्थापित किये थे, की विस्तृत सूची देता है। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है :

6 (अ) भद्रबाहु के चार शिष्य थे जिनमें से गोदास-'गोदासगण' का संस्थापक था।

यह गण चार शाखाओं में बँटा हुआ था। ये थीं :

1. ताम्रलिप्तिका
2. कोटिवर्षिया
3. पुण्ड्वर्धनीया
4. दासी खब्बड़िया

यह ध्यान देने योग्य बात है कि गोदास ने चार शाखाओं की स्थापना की जिनमें से तीन का नाम पश्चिमी और उत्तरी बंगाल के स्थानों के नाम पर दिये गये हैं। गोदास या भद्रबाहु के किसी भी शिष्य द्वारा स्थापित इन शाखाओं में से किसी का भी नाम जैन धर्म के इतिहास में फिर कभी नहीं आया।

6 (ब) सम्भूत विजय के बारह पुरुष शिष्य थे, जिनमें स्थूलभद्र भी था, जो संक्षिप्त सूची में सातवें स्थान पर था। संभूत विजय की सात स्त्री शिष्यायें भी थीं।

8 (अ) महागिरी जो स्थूलभद्र के दो शिष्यों में वरिष्ठ था, के आठ शिष्य थे। आठ में से हमें केवल दो के नाम देने की आवश्यकता है:

कोडिन्न और रोहगुप्त। कोडिन्न के शिष्य अस्सापिता थे जिसने 220 वीर संवत् में संघ की चौथी विभक्ति को प्रारम्भ किया जबकि रोहगुप्त ने 544 संवत् में छठी विभक्ति को जन्म दिया। चूँकि यह संभव नहीं है कि दो व्यक्ति जिनमें केवल एक ही पीढ़ी का फर्क है, तीन सौ वर्षों तक जिन्दा रह सकते हैं। अतः छठी विभक्ति का रोहगुप्त कोई और व्यक्ति रहा होगा। महागिरी के आठ शिष्यों में बहुल का नाम नहीं पाया जाता। नन्दी सूत्र के अनुसार बहुल महागिरी के बाद संघ का धर्माचार्य था। कल्पसूत्र में उसका नाम न होना भ्रामक है।

8 (ब) सुहस्ति के आठ शिष्य थे, जिनमें से कुछ ने गणों, शाखाओं और कुलों की स्थापना की। इन गणों में कुछ के नाम मथुरा के कंकाली टीला के जैन अवशेषों में पाये गये शिलालेखों में पाये जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि गणों, कुलों और शाखाओं की लम्बी सूची फर्जी नहीं है तथा इन नामों में से जो कल्पसूत्र में दिये गये हैं, कुछ वास्तव में अस्तित्व में थे। दुर्भाग्यवश मथुरा के शिलालेखों में तत्कालीन धर्माचार्यों के नाम नहीं हैं। इस प्रकार इन जैन संघ के नेताओं की स्वतंत्र स्रोत से, कालक्रम तय करने में कठिनाई है।

सुहस्ति के बारह शिष्यों में केवल 9 (अ) सुस्थित और 9 (बी) सुप्रतिबद्ध—जो सुहस्ति के बाद संयुक्त रूप से धर्माचार्य बने—ने गणों और कुलों को स्थापित किया और यह बात मथुरा के शिलालेखों से स्पष्ट है। इन दोनों धर्माचार्यों ने "कुटिक" गण की स्थापना की। इस गण का उल्लेख मथुरा के शिलालेखों में सर्वाधिक पाया जाता है। यह गण स्वयं चार कुलों में विभक्त किया गया था। इन कुलों के नाम निम्न प्रकार हैं :

कल्पसूत्र में अंकित	मथुरा शिलालेख में अंकित
बम्मालिज्जा	ब्रह्मदासिका
वच्चालिज्जा	बच्चालिया
वनिज्जा	थानिया या स्थानीया
पनहावहानया	पनहावहनाया

इसी प्रकार शाखाओं के लिये, हमारे पास है :

उच्चानागरी	उच्चानागरी
विद्याधारी	
वज्री	वज्री या वेरी
मज्झिमिल्ला	माझिमा

यह उल्लेखनीय है कि मथुरा के शिलालेखों में एक शाखा का नाम नहीं है।

कौटिक गण के बाद, मथुरा के जैन शिलालेखों में वारणगण का उल्लेख सबसे अधिक संख्या में है। कल्पसूत्र में ऐसे किसी गण का उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र में चारण गण का उल्लेख है। यह अनुमान लगाया गया है कि चूँकि ब्राह्मी अक्षर "च" और "व" एक जैसे दिखते हैं अतः इस गण का नाम "वारन" पढ़ना चाहिये और इसमें कल्पसूत्र के नकल करने वालों की त्रुटि है। यदि इसे स्वीकार कर लेते हैं तो हम इस गण के कुलों में भी निम्नानुसार समानता पाते हैं :

चारण गण के कुल— कल्पसूत्र के अनुसार	वारण गण के कुल— मथुरा के शिलालेखों के अनुसार
(अ) बच्चलिज्जा	(1) (वच्चाली) यातो

(ब) प्रतिधर्मिका	(2) पेटावामिका
(स) हाल्लिजा	
(द) पुष्पमित्रिका	(3) पुष्यमित्रिया
(य) मलिज्जा	
(र) आर्यचेतक	4) आर्यचेतिया
(ल) कान्हासह	5) कनियासिका
	6) आर्य-हट्टिकिया
	7) अय्या भित्ति
	9) नादिका

कल्पसूत्र का चारण गण सुहस्तिन के शिष्यों में से एक श्री गुप्त द्वारा स्थापित किया गया था। इस गण की चार शाखायें थीं। उनका मथुरा के शिलालेखों से तालमेल (Corrospondence) निम्न प्रकार था :

कल्पसूत्र के चारण गण की शाखायें	**मथुरा के शिलालेखों के वारणगण की शाखायें**
(अ) हरितमालाकरी	(i) हरितमालाकाधि
(ब) समकक्षिका	(ii) सम (कासिया)
(स) गावेधुका	
(द) बज्रनागरी	(iii) वज्रनागरी
	(iv) ओडा

नामों में समानता देखने योग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि लगाया गया अनुमान सही है और कल्पसूत्र का चारणगण, मथुरा के शिलालेखों में वारणगण की तरह ही पढ़ा जाना चाहिये। संघ के दूसरे दो धर्माचार्य थे :

10. इन्द्रदत्त, जो संयुक्त आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के पाँच शिष्यों म से एक थे।

11. दत्ता

हेमचन्द्र ने अपनी स्थविरावली में इन दोनों नामों की पूर्णतया उपेक्षा की है। कल्पसूत्र ने इन दो नामों के गोत्र बतलाने के अलावा और कोई सूचना नहीं दी है। वास्तव में हमें यहाँ तक नहीं बतलाया गया है कि दत्ता किसका शिष्य था। इनके बाद दो धर्माचार्य थे : 12. सिंहगिरी — जो दत्ता का शिष्य था। 13. वज्र — जो सिंहगिरी का शिष्य था।

14. वज्रसेन किसका शिष्य था हमें नहीं पता।

कल्पसूत्र की संक्षिप्त सूची में वज्रसेन अन्तिम धर्माचार्य है। लम्बी सूची में 19 और भी एक के बाद एक दूसरे धर्माचार्यों के नाम हैं। सूची पुष्पगिरी से प्रारम्भ होकर शाण्डिल्य पर समाप्त होती है। इसके बाद कल्पसूत्र में छः गाथायें हैं जिनमें भी छः और धर्माचार्यों के नाम हैं। इन छः में अन्तिम क्षमाश्रमण देवार्धि है जो बल्लभी सम्मेलन के सभापति थे। श्वेताम्बरों के धर्मशास्त्रों को इसी सम्मेलन में लिखित स्वरूप दिया गया था। इन 25 धर्माचार्यों के नाम निम्नानुसार हैं :

15. पुष्पगिरी
16. फल्गुमित्र
17. धनगिरी
18. भूति
19. भद्र
20. नक्षत्र
21. रक्षा
22. नाग
23. जेहिल
24. विष्णु
25. कालक
26. समपलिता और भद्र
27. वृद्ध
28. संघपालित
29. हस्तिन
30. धर्म
31. सिंह
32. धर्म
33. शाण्डिल्य
34. जम्बू
35. नन्दिता
36. क्षमा श्रमण देशीगनी
37. क्षमा श्रमण स्थिरगुप्ता
38. धर्म
39. क्षमा श्रमण देवर्धि

—

परिशिष्ट - V

नन्दी सूत्र की स्थविरावली

नन्दी सूत्र के प्रथम अध्याय में एक स्थविरावली (धर्माचार्यों की सूची) दी गई है। नन्दी सूत्र की स्थविरावली, कल्पसूत्र की सूची से महागिरी और सुहस्ति (9) तक मिलती है और उसके बाद बिल्कुल भिन्न है। नन्दी सूत्र की स्थविरावली—श्वेताम्बरों के ज्यादा जानकारी में नहीं हैं और वास्तव में मंगू (15) के अलावा सूची में दिये गये अन्य किसी भी धर्माचार्य के बारे में कोई कथा भी प्रचलित नहीं है।

नन्दीसूत्र की स्थविरावली निम्न प्रकार है :

1. अज्जिवेसनाम — गोत्र के सुहम्मा
2. केसवम गोत्र के जम्बू
3. कच्छायन गोत्र के पभव
4. वच्छ गोत्र के सिज्जंभव
5. तुंगिया गोत्र के जसभद्द
6. माधरम गोत्र के सम्भूय
7. पाइन्नाम गोत्र के भद्दबाहू
8. गोयमा गोत्र के थूलभद्द
9. वाच्चा गोत्र के महागिरी और सुहस्ति
10. कोसिया गोत्र के बहुला
11. हरिया गोत्र के सायम
12. मोहानई गोत्र के समज्जा
13. कोसिया गोत्र के समदिल्ला
14. अज्जा समुद्दा
15. अज्जा मंगू
16. अज्जा धम्मा
17. भद्द गुप्त
18. अज्जा वैरा
19. अज्जा रक्षिता
20. अज्जा नन्दीला
21. अज्जा नागा हत्ती
22. रेवती (राई नरवत्त नामानाम)
23. बम्मदिवग्गा सिहे
24. खण्डिला
25. नागाज्जुन
26. नागाज्जु
27. गोविन्दा

परिशिष्ट - VI

वृहत खरतरगच्छ (श्वेताम्बरों के धर्माचार्यों की सूची) की पट्टावली

धर्माचार्यों के जन्म और आचार्य पद पर आसीन होने की सवंतृसर के अनुसार तिथियाँ :

1. सुधर्म
2. जम्बू
3. प्रभव
4. सय्यम्भव
5. यशोभद्र
6. सम्भूत विजय
7. भद्र बाहु
8. स्थूल भद्र
9. महागिरी
10. सुहस्ति
11. सुस्थित
12. इन्द्र
13. दिन्न
14. सिंहगिरी
15. वज्र
16. वज्रसेन
17. चन्द्र
18. समन्तभद्र
19. वृद्धदेव
20. प्रदयोला
21. मानदेव
22. मानतुंग
23. वीर (2)
24. जयदेव
25. देवानन्द
26. विक्रम
27. नरसिंह
28. समुद्र

29. भानादेव
30. विबुध प्रभा
31. जयानन्द
32. रविप्रभा
33. यशोभद्र
34. विमलचन्द्र
35. देव
36. नेमीचन्द्र
37. उद्योतन

उद्योतन के दो शिष्य — वर्धमान और सर्वदेव गच्छों के प्रमुख बने जो बाद में क्रमशः खरतरगच्छ और तपागच्छ कहलाये।

38. वर्धमान
39. जिनेश्वर
40. जिनचन्द्र
41. अभयदेव
42. जिन वल्लभ
43. जिनदत्त (जन्म 1132 ई.)
44. जिनचन्द्र
45. जिनपति (जन्म 1210 पद 1223)
46. जिनेश्वर (जन्म 1245, पद 1278)
47. जिन प्रबोध (जन्म 1285, पद 1331)
48. जिन चन्द्र (जन्म 1326, पद 1341)
49. जिन कुशल (जन्म 1337, पद 1377)
50. जिन पद्म
51. जिन लब्धि
52. जिनचन्द्र
53. जिनोदय (जन्म 1375 ई. पद 1415)
54. जिनोदय (पद 1432)

(जिनवर्धन जो 54वें और 55 वें धर्माचार्यों के बीच थे —ने चौथे महाव्रत को तोड़ा था—का आचार्य पद छीन लिया गया था)।

55 जिनभद्र
56. जिनचन्द्र (जन्म 1487, पद 1514)
57. जिन समुद्र (जन्म 1506, पद 1530)

58. जिनहंस (जन्म 1524, पद 1557)
59. जिनमानिक्य (जन्म 1549, पद 1582)
60. जिनचन्द्र (जन्म 1595, पद 1612)
61. जिनसिंह (जन्म 1615, पद 1670)
62. जिनराज (जन्म 1647, पद 1674)
63. जिन रत्न (पद 1699)
64 जिनचन्द्र (पद 1711)
65. जिन सौख्य (पद 1763)
66. जिन भक्ति (जन्म 1770, पद 1780)
67. जिनलुभ (जन्म 1784, पद 1804)
68. जिनचन्द्र (जन्म 1809, पद 1834)
69. जिन हर्ष (पद 1856)

संदर्भ — बंगाली "विश्कोष" से, "जैन" पर लेख जो नगेन्द्र नाथ बसु, कलकत्ता 396 द्वारा संपादित।

परिशिष्ट - VII

सरस्वती गच्छ (दिगम्बरों) की पट्टावली (आचार्यों की सूची)

1. भद्रबाहु –II
2. गुप्तीगुप्त
3. माघनन्दी
4. जिनाचार्य— I
5. कुन्दकुन्द
6. उमास्वामी
7. लोहाचार्य — II
8. यक्षकीर्ती
9. यशोनन्दी
10. देवानन्दी
11. पूज्यपाद
12. गुणनन्दी –I
13. वज्रनन्दी
14. कुमारनन्दी
15. लोकचन्द्र —I
16. प्रभाचन्द्र
17. नेमीचन्द्र
18. भानुनन्दी

84. पदमानन्दी (देहली)
85. सुभचन्द्र (देहली)
86. प्रभाचन्द्र (देहली)
87. जिनचन्द्र (चित्तौड़)
88. धर्मचन्द्र (चित्तौड़)

इसके बाद गुजरात में भट्टारक हुए थे। उनके नाम, उनके पदासीन होने के वर्षों के साथ संवत् वर्ष में निम्न दिये गये हैं :

89. ललित कीर्ति (1603)
90. चन्द्र कीर्ति (1622)
91. देवेन्द्र कीर्ति (1662)
92. नरेन्द्र कीर्ति (1691)
93. सुरेन्द्र कीर्ति (1722)
94. जगत कीर्ति (1733)

95. देवेन्द्र कीर्ति (1770)
96. महेन्द्र कीर्ति (1792)
97. सेमेन्द्र कीर्ति (1815)
98. सुरेन्द्र कीर्ति (1822)
99. सुखेन्द्र कीर्ति (1852)
100. नयन कीर्ति (1879)
101. देवेन्द्र कीर्ति (1883)
102 महेन्द्र कीर्ति --II (1938)

सन्दर्भ-- (हिन्दी विश्वकोष में भाग VIII, 1924 ईसवी पृष्ठ 441-443 से उद्धृत।)